लोकप्रिय गीता

गोपाललाल बर्मन

'लोकप्रिय गीता' की कई विशेषताएँ हैं। एक तो ग्रन्थाकार ने प्रत्येक अध्याय को मथकर उसके स्निग्ध सारको ही प्रस्तुत किया है।

दूसरी विशेषता यह है कि श्लोक का भाव कहानियों और सरल उदाहरणों द्वारा समझाया गया है।

तीसरी विशेषता यह है कि यह बतलाया गया है कि गीता का दैनिक जीवन में किस प्रकार प्रयोग करना चाहिये।

चौथी विशेषता यह है कि रामचरितमानस, यशोधरा इत्यादि काव्यों से गीता के उपदेशों का समर्थन किया गया है।

पाँचवीं विशेषता ग्रन्थ की सरल, सु

और सरस भाषा है।

मैं इस सुन्दर ग्रन्थ के प्रणयन पर ग्रन्थ

को बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि

समाज इसका अध्ययन कर इससे लाभा

होगा।

ज
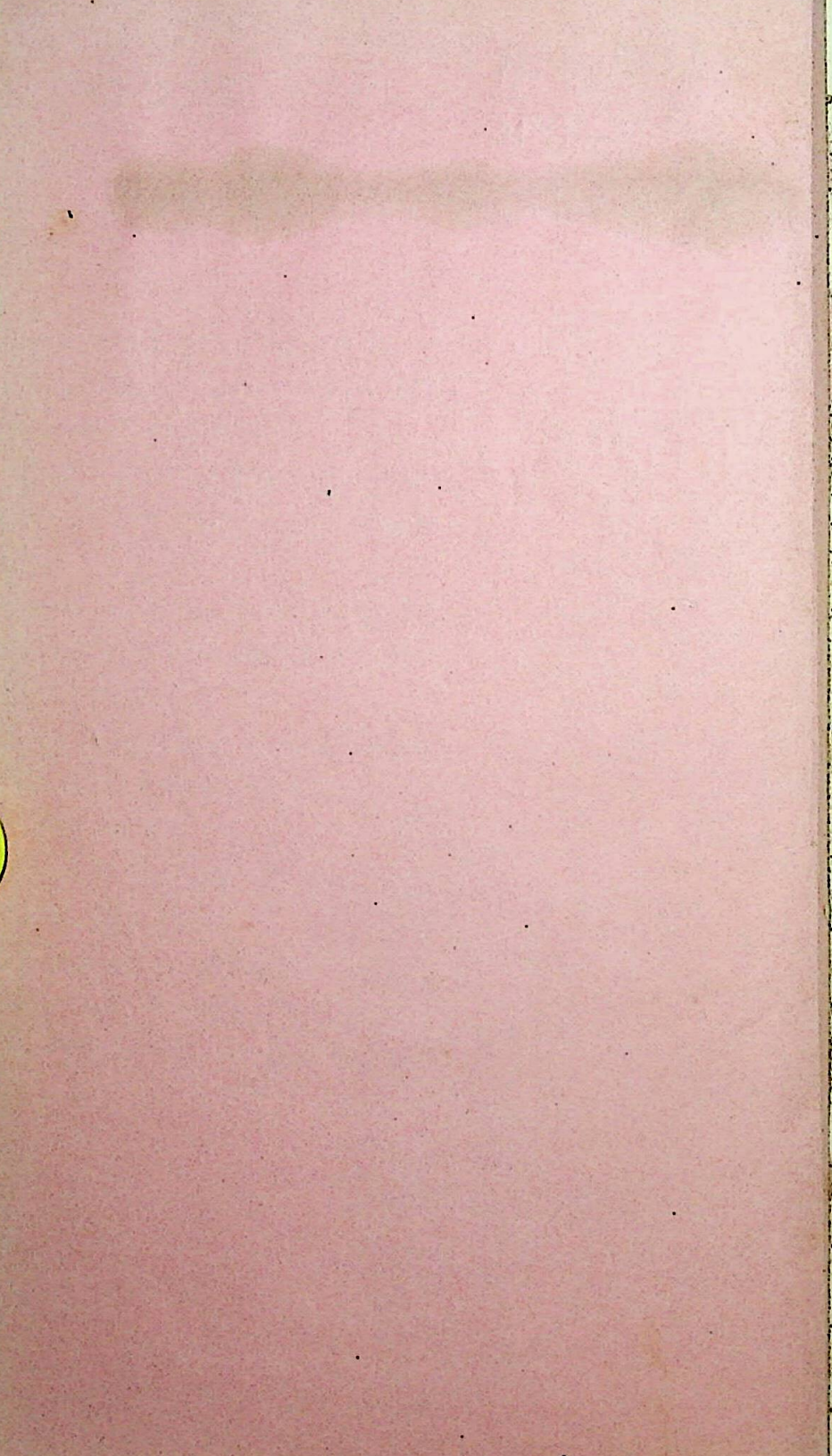
लोकप्रिय गीता

लोकप्रिय भाषा में गीताका
सरल-सुबोध सार

•

लेखक
गोपाललाल बर्मन

•

प्रस्तावना
ठाकुर जयदेवसिंह

•

प्रकाशक
पंचवटी कम्पनी
भेलूपुर, वाराणसी २२१००१

लोकप्रिय गीता

©
प्रकाशक
पंचवटी कम्पनी
भेलूपुर, वाराणसी २२१००१

प्रथम संस्करण, १५००
१९८०

मूल्य : २५ रुपये

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
बी० २७/९२ जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी
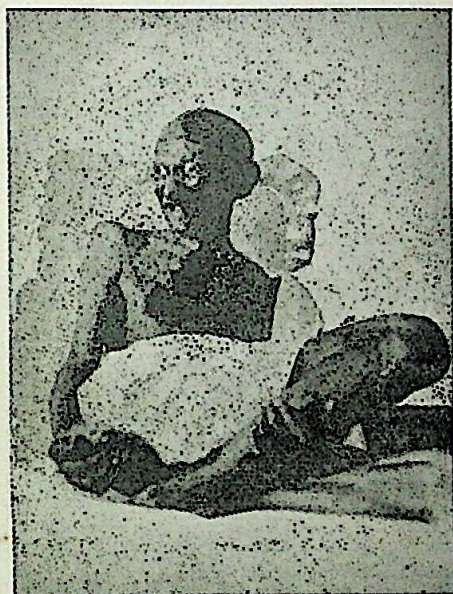
आशीर्वाद

कोई भी अच्छा काम अपना आशीर्वाद
अपने साथ लेकर चलता है।

महात्मा गाँधी

वन्दना

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रवि कर निकर ॥

□

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे।

□

पूज्य माँ व पूज्य पिता अनन्तप्रसादजी बर्मनके चरणों में सादर प्रणाम।

□

पूज्य चाचा गोरधनदास भगवानदासजीके चरणोंमें सादर प्रणाम।

हेतु

यह पुस्तक जनसाधारणको और विशेषरूपसे युवक-युवतियों को गीता-माताका परिचय करानेके लिए लिखी गयी है। गीता भारतकी सर्वमान्य पुस्तक है। करोड़ों भारतीय गीताकी पूजा करते हैं, पर गीतासे प्रेरणा प्राप्त करने वालोंकी संख्या कम है। गीताको भारतमें और विश्वमें लोकप्रिय बनानेके लिए उसके अर्थ और भावार्थको सरल, सुबोध भाषामें सर्वसाधारणके समक्ष रखना होगा।

गीताका उपदेश सुगम और यथार्थ है। तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण गीता-माताके सुबोध होनेका एक प्रमाण तो यह है कि मेरे जैसा साधारण व्यक्ति, जिसे संस्कृत का स्वल्प ज्ञान है, गीताका स्वयं दर्शन करके युवा-जनको उसका परिचय कराने का प्रयत्न करता है।

विद्वानोंका कर्तव्य है कि गीताको सरल भाषामें जनताको समझावें। गीता सबकी है, इसलिए सबको हृदयंगम होनी चाहिये। गीताकी संस्कृत सुन्दर और सरल है, थोड़े अभ्यास से ही श्लोक याद हो जाते हैं।

गीता द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन मनुष्य मात्रके लिए है। गीताने मनुष्य जीवनकी समस्याओंका व्यवहारिक समाधान प्रस्तुत किया है—राग-द्वेष त्यागकर स्वधर्मका पालन करो; अनासक्त रहनेका अभ्यास करो; यज्ञार्थ कर्म करो; कर्मफलकी चिन्ता छोड़ो; कुशलतासे कर्म करो; सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार रहो; सबसे निर्वैर होकर रहो; सब परि-स्थितियोंमें शान्त रहो; ईश्वर की शरण जाओ। गीताको मुख्य शिक्षाको समझना कठिन नहीं है पर उसको आचरणमें लाना अवश्य कठिन है।

गीताको पढ़ना, श्लोकोंको कंठस्थ करना, उनका मनन करना और तदनुसार आचरणका प्रयत्न करना ही गीतामाताका पूजन करना है।

मैं उन युवक-युवतियोंका आभारी हूँ जिनके लिए मैंने यह पुस्तक लिखी। उन्हें समझानेके लिए मुझे स्वयं समझना पड़ा। अनेक महा-

पुरुषोंके ग्रन्थोंके बीच वर्षों तक रहनेका अवसर मिला। जो कुछ मैंने युवकोंको देना चाहा उससे अधिक मुझे मिल गया है।

'लोकप्रिय गीता'में गीताके दूसरे, तीसरे तथा बारहवें अध्यायके सब श्लोक दिये गए हैं। बाकी अध्यायोंके कुछ श्लोक देकर सभी अध्यायोंसे परिचय करानेका प्रयत्न है। श्लोकके नीचे भावार्थ लिखा गया है। विभिन्न ग्रन्थोंके उद्धरणोंको प्रायः छोटे टाइपमें दिया गया गया है। 'लोकप्रिय गीता' एक युवकको सुनाई गयी है। युवककी रुचिका ध्यान रखते हुए, उसके समझने योग्य सरल भाषा और उदाहरणका प्रयोग किया गया है।

साहित्य, दर्शन और संगीतके मर्मज्ञ तथा पद्म भूषण एवं डी. लिटकी उपाधियोंसे विभूषित ठाकुर जयदेवसिंहजीने इस पुस्तककी प्रस्तावना लिखनेकी कृपाकी है; मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ। श्री शरद्वल्लभा बेटी जी, श्री रोहित मेहताजी, पं० बदरीनाथजी शुक्ल, डा० भगवानदासजी अरोड़ा, पं० वासुदेवजी द्विवेदी शास्त्री तथा अन्य विशिष्ट विद्वानोंने 'लोकप्रिय गीता' पर सम्मतियाँ लिखी हैं और शुभ कामना प्रकटकी है। मैं उन सबका कृतज्ञ हूँ और प्रणाम करता हूँ।

मूक होइ बाचाल पंगु चढइ गिरिबर गहन।
जासु कृपाँ सो दयाल द्रवउ सकल कलि मल दहन॥

वाराणसी
२०-१२-८०

गोपाल लाल बजाज

प्रस्तावना

गीता जैसा ग्रन्थ संसारमें कदाचित् ही कोई दूसरा मिलेगा। अनेक आचार्यों और विद्वानोंने इस पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य और टीकाएँ लिखी हैं। संसारकी सभी मुख्य भाषाओंमें इसका अनुवाद भी हो चुका है। परन्तु जो कुछ भी अभी तक गीता पर लिखा गया है वह प्रौढ़ वयस्कों और विद्वानोंके ही लिए लिखा गया है।

यह आज तक किसीको सूझा ही नहीं कि गीताके मूलसिद्धान्त ऐसे ढंगसे भी प्रतिपादित हो सकते हैं जो अल्पवयस्क बालक और बालिकाओंको समझमें आ जाँय। जहाँ तक मुझे पता है श्री गोपाललाल बर्मनका इस दिशामें यह प्रथम प्रयास है।

'लोकप्रिय गीता' की कई विशेषताएँ हैं जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं।

एक तो ग्रन्थकारने गीताके सभी श्लोकोंकी व्याख्या नहीं लिखी है। प्रत्येक अध्यायको मथ कर उन्होंने उसके स्निग्ध सारको ही प्रस्तुत किया है। इस मन्थनमें उन्होंने दो बातों पर ध्यान रखा है। एक तो यह कि उस अध्यायका मुख्य उपदेश सामने आ जाय और दूसरी यह कि ऐसी जटिल और कठिन बातें जो अल्पवयस्क बालक और बालिकाओंकी समझके बाहर हों उन्हें छोड़ दिया जाय। प्रत्येक अध्यायके श्लोकोंके चयनमें पर्याप्त सूझबूझसे काम लिया गया है।

दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक श्लोकका भाव कहानियों और सरल उदाहरणों द्वारा समझाया गया है।

तीसरी विशेषता यह है कि गीताको केवल सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्तोंकी दृष्टिसे ही नहीं प्रतिपादित किया गया है; उनका साधारण जीवनसे सम्बन्ध दिखलाते हुए यह बतलाया गया है कि दैनिक जीवनमें उनका किस प्रकार प्रयोग करना चाहिये।

चौथी विशेषता यह है कि रामचरितमानस, यशोधरा इत्यादि काव्योंके समकक्षी भावोंके द्योतक उद्धरणों द्वारा गीताके उपदेशोंका समर्थन किया गया है।

पाँचवीं विशेषता ग्रन्थकी सरल, सुबोध और सरस भाषा है।

मैं इस सुन्दर ग्रन्थके प्रणयन पर ग्रन्थकारको हार्दिक बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि छात्र समाज इसका अध्ययन कर इससे लाभान्वित होगा।

१६-१२-८०

जयदेवसिंह

सम्मतियाँ

भगवद्गीता भारतवर्षका सर्वमान्य ग्रन्थ है। सब सम्प्रदायोंने गीता-को स्वीकार किया है। आज पूरे संसारमें लोग गीताकी ओर अभिमुख हुए हैं। योरप और अमेरिकामें बहुत लोग इसका अध्ययन करते हैं।

गीता पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं। गीता एक रत्नाकर है, उस अगाध समुद्रमें अनेक रत्न पड़े हैं। भाष्यकारोंने कुछ-कुछ रत्न निकालकर मानव समाज के पास रखे हैं, लेकिन कोई एक भाष्यमें सब रत्न एकत्रित हो नहीं सकते हैं। ऐसा बड़ा रत्नाकर तो संसारमें कहीं नहीं मिलता है।

श्री गोपाललाल बर्मन ने गीताका सन्देश बहुत सरल और लोकप्रिय भाषामें प्रस्तुत किया है। नयी पीढ़ीके लोग भी समझ सकें ऐसी सुगम शैलीमें आपने गीताका सन्देश रखा है। उनका प्रयास प्रशंसनीय है।

गीताका सन्देश प्रधानतः कर्मका सन्देश है। गीताका दर्शन वास्त-विक है जैसा कि वैज्ञानिक युग चाहता है। गीताने संन्यास और त्यागको भिन्न माना है। भगवानने अर्जुनको संन्यासकी ओर नहीं अपितु त्याग-की ओर जानेके लिए प्रेरित किया है। बर्मनजीने गीताके कर्मवादको ही सरल भाषामें समझाया है। आपने अनेक भाष्यकारोंका उद्धरण अपने विवेचनमें किया है; इससे आपका ग्रन्थ और भी समृद्ध हुआ है।

गीता-जयन्ती
१८-१२-८०

रोहित मेहता

'लोकप्रिय गीता' में 'एकं शास्त्रं देवकीपुत्र गीतम्' के कर्म, ज्ञान और भक्तिके सिद्धान्तोंको अत्यन्त सरल, सुबोध तथा सुन्दर शैलीमें प्रतिपादित किया गया है। गीताका संदेश मानव जीवनके लिए संजीवनी है। इसके मननसे नयी पीढ़ीके निर्माणमें बड़ी सहायता मिलेगी। श्री गोपाल लाल बर्मनका यह प्रयास स्तुत्य है।

वल्लभवंशजा श्री शरद्वल्लभा बेटीजी
श्री शुद्धाद्वैत जप-यज्ञ समिति, चोखम्भा, वाराणसी

गीतापर अनेक व्याख्याएँ होने पर भी ऐसी व्याख्याका अभाव रहा जो वर्तमान युगके नयी अवस्थाके बालक बालिकाओंको गीताकी ओर आकृष्ट करती और जिसके द्वारा सरलतासे उन्हें गीतासे वह बोध प्राप्त होता जो उनके जीवनमें प्रकाश देता। श्री गोपाललालने इस कमीका अनुभव किया और उसके निराकरणके लिए 'लोकप्रिय गीता' के नामसे गीताकी एक विवेचनात्मक सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की। इस व्याख्यामें छोटे-छोटे सरल वाक्योंमें हृदयस्पर्शी युक्तियों और कहानियोंके माध्यमसे गीताज्ञानको ऐसे ढंगसे प्रस्तुत किया गया है जिससे बालक-बालिकाओंको उसका लाभ हो सके। मैं गीताके ऊपर सरल, सुबोध व्याख्या लिखनेके लिए श्री बर्मनको धन्यवाद देता हूँ।

बदरीनाथ शुक्ल

कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

गीताके भाष्य और टीकाएँ तो बहुत सी देखने और सुननेमें आईं, परन्तु श्री गोपाल लाल बर्मन द्वारा लिखित 'लोकप्रिय गीता' मेरे विचार-से सर्वाधिक सरल और ग्राह्य भाषामें लिखी गई गीता है।

इसका प्रस्तुतिकरण भी अपने ढंगका अनूठा है जो सचमुच इस गीताको—यथानाम तथा गुण—लोकप्रिय बना देगा। एक पिता अपने पुत्र-को इस महान धर्मग्रंथके गूढ़ रहस्यको प्रश्नोत्तरके माध्यमसे इस सुन्दर ढंगसे समझाता है कि जो भी बालक एक बार लोकप्रिय गीताको पढ़ लेगा, श्री भगवान द्वारा प्रतिपादित उच्चजीवन रहस्यको बड़ी सरलतासे अपने जीवनमें उतार लेगा। ऐसी पुस्तक तो यदि स्कूलके पाठ्य क्रममें शामिलकी जा सकती तो देशका कल्याण होता। आज छात्र समाजमें हम जो उच्छ्रिखलता और अनुशासनहीनता देखते हैं 'लोकप्रिय गीता' के रुचिकर पाठसे छात्रोंके अन्दरसे अपने आप उसका अन्त हो जायगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

१७-१२-८० **डा० भगवानदास अरोड़ा**

सम्पादक : गांडीव हिन्दी दैनिक-वाराणसी

अधिकांश व्यक्तियोंकी दृष्टिमें शास्त्र केवल विद्वानों के अध्ययन चिन्तनकी वस्तु मान लिये गये हैं। इसके अनेक कारण हैं जिनमें एक प्रमुख कारण ऐसी पुस्तकोंका अभाव भी है जो भाषा, भाव एवं शैलीकी दृष्टिसे सर्वसाधारण स्त्री-पुरुषों एवं युवक-युवतियोंके लिए रोचक एवं बोधगम्य हों। बर्मनजी ने इस कमीको दूर करनेके लिए इस पुस्तककी रचनाकी है। इसमें उन्होंने गीताके प्रायः सभी मुख्य विषयोंको प्राचीन एवं आधुनिक कथाओं तथा दृष्टान्तोंके साथ सरल एवं रोचक भाषामें समझाया है। मेरी यह हार्दिक कामना है कि

इयं लोकप्रिया गीता गेहे गेहे जने जने।
मुखे मुखे च नृत्यन्ती सदा सर्वत्र राजताम्॥

वासुदेव द्विवेदी शास्त्री
संचालक—सार्वभौम संस्कृत प्रचार कार्यालय, वाराणसी

'कथाच्छलेन बालानाम्' का जैसा प्रयोग 'हितोपदेश' है, वैसा ही, और वैसा ही क्यों, उससे भी उत्तम प्रयोग 'लोकप्रिय गीता' है।

यशोधराकी कहानी हो या तुलाधारकी; भरतकी हो या मीराकी; महेशप्रसादकी हो या रामदासकी; गोविन्दलालकी हो या रामलखनकी; गंगारामकी हो या रामनरायनकी—सबकी सब कहानियाँ गीता ज्ञानको सरल शब्दोंमें समझाती हैं। रामायण, महाभारत, गांधी और विनोबाके उद्धरणोंकी सहायतासे गूढ़तत्वोंको सर्वसुलभ बनानेके लिए लेखक बधाई का पात्र है।

१७-१२-८०

श्रीकृष्णदत्त भट्ट
अध्यक्ष, विश्वधर्म शान्ति सम्मेलन, वाराणसी

लोकप्रिय गीताको मैं प्रायः आद्यन्त पढ़ गया। 'प्यारे बेटे' को सम्बोधित इस गीतामें लेखकने बड़ी सावधानीके साथ श्रीमद्‌भगवद्-गीताके चुने हुए लोकोपयोगी प्रसंगोंको लेकर 'संक्षिप्त गीता' का संकलन किया है। यह पुस्तक निश्चय ही पढ़नेवाले युवकों एवं किशोर पाठकोंमें नैतिक चरित्रका निर्माण करेगी।

करुणापति त्रिपाठी
भू० पू० वाइसचांसलर, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

अनुसंधानका सिद्धान्त है—पूर्ववर्ती ज्ञानधाराको आगे बढ़ाना। श्री बर्मनने पूर्ववर्ती ग्रंथराशिको देखकर अनुभव किया कि गीता जैसे गम्भीर ग्रन्थको देशके भावी कर्णधार युवक-युवतियोंमें लोकप्रिय कैसे बनाया जाय ? पाठक देखेंगे कि श्री बर्मनने विभिन्न ग्रंथोंके उद्धरणोंका आश्रय लेकर गीताको आधुनिक परिप्रेक्ष्यमें प्रस्तुत करनेका वस्तुतः स्तुत्य प्रयास किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि गीताका यह अध्ययन लोकप्रियता अवश्य प्राप्त करेगा।

गीता जयन्ती २०३७ वैक्रमाब्द

डा० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'

निदेशक, अनुसंधान-संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

लोकप्रिय गीताकी सबसे बड़ी विशेषता मुझे यह समझमें आई कि यह सर्वसाधारणको तथा नवयुवकोंको आसानीसे समझमें आवेगी। बर्मनजी ने १६ वर्षके नवयुवकको सम्बोधित करके ही लेखनी उठायी है। नवयुवकोंका स्नेह गीताके प्रति हो जाय तो देशका कल्याण हो सकता है।

१८-१२-८० गणपति शर्मा

भू० पू० मंत्री श्रीनन्दलाल बाजोरिया, संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी

'लोकप्रिय गीता' देशकी नयी पीढ़ीके युवक-युवतियोंको नैतिक उत्थान तथा चरित्र-निर्माणमें बहुत सहायक सिद्ध होगी। प्रत्येक अध्याय-के महत्त्व का अत्यन्त मर्मस्पर्शी शैलीमें कथा-सन्दर्भोंके साथ प्रतिपादन अत्यधिक उपादेय है।

लक्ष्मीशंकर व्यास

वरिष्ठ संपादक 'आज' वाराणसी

'लोकप्रिय गीता' को मैं बड़े चावसे पढ़ गयी। पुस्तक आजके युवा-वर्गके लिए विशेष उपयोगी है। प्रत्येक विद्यार्थीको इसका अध्ययन रुचि-कर और शुभप्रद होगा, ऐसी मेरी श्रद्धा है।

१९-१२-८० डा० प्रेमलता शर्मा

संकाय प्रमुख, संगीत एवं नाट्य संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

श्री बर्मनने भारतीय आध्यात्मिक चिन्तनको तरुण पीढ़ीके पास ले जानेके लिए पुत्रको सम्बोधित कर यह रचना लिखी है। श्री बर्मनका अपना चिन्तन और अनुभव, महात्मा गांधी, श्री विनोबा तथा डा० राधा कृष्णन् सरीखे मनीषियोंके चिन्तनसे अनुप्राणित होकर प्रभावकारी शैलीमें इस रचनामें आ सका है। यह रचना सच्चे अर्थोंमें लोकप्रिय होगी और गीताके तात्पर्यको आजकी तरुण पीढ़ीको हृदयंगम करानेमें बलवती भूमिका निभायेगी।

२०-१२-८० **कमलेश दत्त त्रिपाठी**

अध्यक्ष, धर्म विभाग, प्राच्य विद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

'क्रिकेट' जैसे आधुनिक और युवकोंके प्रिय खेलका उदाहरण देकर गीताके श्लोकोंका भाव समझानेकी शैलीमें आधुनिकता और परम्परावादका अनूठा समन्वय दृष्टिगोचर होता है। 'लोकप्रिय गीता' लोकप्रियताकी सभी योग्यताओंसे युक्त एक पठनीय पुस्तक कही जा सकती है।

सूर्यमल माठोलिया

प्रमुख सहायक ग्रन्थ

पुस्तक	लेखक	प्रकाशक
गीता माता	महात्मा गांधी	सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
गीता-प्रवचन	विनोबा भावे	सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
भगवद्गीता	डा० राधाकृष्णन्	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
गीता-परिचय	स्वामी रामसुखदास	गीता प्रेस, गोरखपुर
श्री मद्भगवद्गीता पदच्छेद अन्वय और टीका		गीता प्रेस, गोरखपुर
गीतारहस्य	लो० तिलक	तिलक मंदिर, पूना
गीता-संवाद	सियारामशरण गुप्त	साहित्य-सदन, झांसी
गीता-सार	कुसुमलता	लोक-भारती, दिल्ली
महाभारत		गीता प्रेस, गोरखपुर
रामचरितमानस		गीता प्रेस, गोरखपुर

'लोकप्रिय गीतामें उद्धृत समश्लोकी हिन्दी अनुवाद सियारामशरण जी लिखित 'गीता-संवाद'से लिया गया है।'

अनुक्रम

श्रीराम

लोकप्रिय गीता

पहला अध्याय

मेरे प्यारे बेटे,

मुझे प्रसन्नता है कि गीताका परिचय प्राप्त करनेकी इच्छासे तुम आज मेरे समीप बैठे हो।

भारतीय संस्कृतिकी, भारतीय दर्शनकी, वैदिक विचारधाराकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक "श्रीमद्भगवद्गीता" है जिसे साधारणतः गीता कहते हैं। यह बहुत छोटी पुस्तक है—केवल ७०० श्लोक हैं।

गीता गंगाकी तरह पवित्र है। शान्ति देनेवाली है। गंगामें जो स्नान करे—उसका कोई भी धर्म हो—गंगा उसे स्वच्छ, शीतल और निर्मल करती है। गीता मानवमात्रकी मार्ग दर्शक है। मानवका कल्याण करने-वाली है। कर्म, भक्ति और ज्ञानकी त्रिवेणी है।

जब तुम १-२ वर्ष के थे—सोनेकी अंगूठी और मिठाई साथ-साथ रखनेपर अंगूठी छोड़ कर मिठाई ले लेते थे। तुम्हें मिठाई अच्छी लगती थी और यह पता नहीं था कि सोनेकी अंगूठीसे पचासों किलो मीठा खरीदा जा सकता है। आज तुम १६ वर्षके हो गए हो। अब तुम सोनेकी अंगूठी का मूल्य समझते हो। पर आज तुम हल्के हानिकारक साहित्यमें रुचि लेते हो और गीता तथा रामचरितमानस जैसे ग्रन्थ पढ़नेमें तुम्हारा मन नहीं लगता। जब तुम कुछ और बड़े होगे तो तुम समझ जाओगे कि गीता और रामचरितमानस उस सोनेकी अंगूठीसे हजार-लाख गुना कीमती हैं। बालक जैसे सोनेकी अंगूठीका महत्त्व नहीं समझता तुम आज गीता, मानसका महत्त्व नहीं समझ पाते हो।

गीता पर श्री शंकराचार्यने टीका लिखी और हजारों वर्ष पहलेसे कितने विद्वान्, मनीषी गीता पर विवेचन करते आए हैं। आधुनिक कालमें लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, श्री अरविन्द, श्री विनोबा, डॉ० राधाकृष्णन, जयदयाल गोयन्दका, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, किशोरलाल मश्रुवाला इत्यादि अनेक विद्वानोंने गीता पर टीका लिखी

है। सस्ता साहित्य मण्डलसे प्रकाशित "गीता माता" पुस्तकमें गाँधीजी द्वारा की गयी गीता पर टीका, मूल संस्कृत पाठ, गीता-पदार्थ-कोष तथा गीता-संबंधी लेख सबके पढ़ने और मनन करने योग्य हैं। गीताप्रेस गोरखपुरसे गीताके अनेक संस्करण निकले हैं। गीताप्रेसने अल्प मूल्यमें सुन्दर छपाईकी लाखों प्रतियाँ छापकर गीता प्रचारका सराहनीय प्रयास किया है। विनोबाजीका "गीता-प्रवचन" गीताके तत्त्वज्ञानको सरल भाषामें समझानेका प्रयत्न है।

मैंने न अधिक संस्कृत पढ़ी है और न गीताका विशेष अध्ययन किया है। आजकी चर्चाका उद्देश्य तुम्हें और तुम्हारी आयुके युवक-युवतियोंको गीताका परिचय कराना और तुम्हें गीताजीको जानने और उनके आदेशानुसार आचरण करनेका उत्साह और लगन पैदा करना है।

तुम कहते हो "मेरा गीता पढ़नेमें मन नहीं लगता, गीता समझमें नहीं आती"। जब तुमने कक्षा ५ से ६ में प्रवेश किया था तुम्हारा रेखा-गणित पढ़नेमें मन नहीं लगता था। तुमने शब्द पढ़े थे, अंक पढ़े थे अब रेखाका पढ़ना तुम्हें अखर जाता था। तुम्हारा मन ऊबता। रेखा, बिन्दु, कोण, त्रिभुज यह सब क्या? पर मन लगे या न लगे तुम्हें पढ़ना तो था ही। तुमने मास्टरसाहबकी आज्ञानुसार पटरी और पेन्सिलकी सहायतासे कागज पर एक सीधी रेखा खींची। फिर एक दूसरी सीधी रेखा खींची, तीसरी सीधी रेखा खींची। इन तीनों रेखाओंके मिल जानेपर मास्टरसाहब बोल उठे कि त्रिभुज बन गया। तुम खुश हो गए कि त्रिभुज बना लिया। तुमने घर आकर माँसे कहा कि आज मैंने त्रिभुज बनाया। माँको बनाकर दिखाया भी। तुम्हारा अध्ययन प्रगति करता गया। तुमने समद्विबाहु त्रिभुज, समबाहु त्रिभुज, विषमबाहु त्रिभुजका बनाना सीखा। चतुर्भुजकी रचना सीखी। आयत बनाया, वर्ग बनाया—रेखागणितमें प्रगति करते गए। आज तुम दसवीं कक्षामें पढ़ रहे हो। रेखागणित पढ़नेमें तुम्हारा मन लगता है और समझ कर पढ़ते हो। आज रेखागणित तुम्हारा प्रिय विषय है।

आज तुम अपने छोटे भाईको पढ़ाते हो त्रिभुज माने जिसकी तीन भुजा। वह नहीं समझता कि भुजा क्या? तुम्हारे समझाने पर भी वह नहीं समझ पाता कि त्रिभुज कैसे बनता है। समबाहु त्रिभुज तो वह बना ही नहीं पाता। कभी एक भुजा बड़ी हो जाती है कभी दूसरी छोटी। यह रेखा, बिन्दु, त्रिभुज उसे नया-नया लगता है, अरुचिकर लगता है। वह रहीमके दोहे पढ़ता है, भारतका भूगोल पढ़ता है। रेखागणितकी

पुस्तक खोलनेका उसका मन नहीं करता। तुम उसे प्रेमपूर्वक समझाते हो। बार-बार सीधी रेखा खींचने और त्रिभुज बनानेको कहते हो। तुम्हें विश्वास है कि कुछ दिनोंमें तुम्हारा छोटा भाई रेखागणित समझने लगेगा जैसे तुम धीरे-धीरे समझने लगे थे। तुम अधीर नहीं होते हो।

दो चार दिन बाद रेखागणितमें उसकी जरा रुचि बढ़ती है। तुमने देखा कि दूसरे कमरेमें जाकर सीधी रेखा खींच रहा है। तुम खुश होते हो कि रेखा खींचनेमें इसका मन तो लगा। अब त्रिभुज भी बना लेगा। दो महीनेके अभ्याससे ही तुम्हारा भाई त्रिभुज और चतुर्भुज बना लेता है। समबाहु त्रिभुज भी बना पाता है।

एक दिन तुम्हारा छोटा भाई अपनी छोटी बहनको सीधी रेखा खींचना और त्रिभुज बनाना सिखा रहा है, तुम हँसते हो—"इसे क्या सिखा रहे हो, अभी कक्षा २ में पढ़ती है रेखागणित क्या समझेगी?" पर तुम्हारा भाई सिखाये जा रहा है और छोटी बच्ची टेढ़ी सीधी रेखा कागज पर बना रही है। तुम हँस देते हो—छोटा भाई भी हँस देता है। छोटी बच्ची भी हँस रही है। माँ देखेगी तो वह भी हँसेगी। चाहे सब हँसे पर यह निश्चित है कि बड़ी होने पर बच्ची भी रेखागणित सीख लेगी जो आज सीधी रेखा भी नहीं खींच पा रही है।

गीताजीके पढ़ने और समझनेमें अनेक वर्ष लगेंगे और लगने भी चाहिए। जब साधारण रेखागणितको समझने में कई वर्ष लग जाते हैं तब गीता जो सम्पूर्ण जीवनशास्त्र है, जो जीवन की सारी गुत्थियों को सुलझानेकी सामर्थ्य रखती है, जो हमें असत्यसे सत्यकी ओर ले जाती है, जो अन्ध .ारसे प्रकाशकी ओर ले चलती है, जो मृत्यु से अमरत्वकी ओर ले जाती है उसे समझनेमें दस बीस वर्ष लगें तो क्या चिन्ता है।

जब मैं १४-१६ वर्षका हुआ पिताजीने गीताके कुछ श्लोक याद करने, रटनेकी आज्ञा दी—और उसकी व्यवस्था की। मेरा मन कहता "स्कूलका कितना काम करना है, हिन्दी, अंग्रेजी, अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, इतिहास, भूगोल और विज्ञान पढ़नेसे ही फुर्सत नहीं, मुझे संस्कृत आती नहीं, कोई पण्डित तो बनना नहीं है।" फिर भी पिताजी-की आज्ञासे कुछ श्लोक रटकर याद कर लिये। मैं श्लोकका अर्थ नहीं समझता था, अर्थ बताया जाय तो तात्पर्य नहीं समझता था। मैं सोचता "ऐसी क्या बात गीताजीने बतायी है कि सब लोग गीताको इतना

महत्त्व देते हैं ? इसमें न कोई किस्सा है, न कहानी, न किसी महापुरुषका जीवनचरित्र।" गीताका महत्त्व एक प्रतिशत भी मेरी समझमें नहीं आता था। गीताका महत्त्व तो मैं अनेकों वर्ष बाद समझा। कैसे कह सकता हूँ कि मैं गीताजीकी महिमाको समझता हूँ। कौन कह सकता है कि मैं सूर्य को समझता हूँ ? सूर्यसे प्रकाश होता है, धूप मिलती है इतना तो १० वर्ष का बालक भी जानता है। बड़े होनेपर सूर्यकी अनेक विशेषताएँ समझमें आने लगती हैं। सूर्य नियत समयपर पूरबमें उदय होता है और पश्चिममें अस्त होता है। सूर्यको सब जानते हैं पर सम्भवतः कोई यह नहीं कह सकता कि मैं सूर्यको पूरी तरह जानता हूँ। सूर्य कितना बड़ा है, पृथ्वीसे कितनी दूर है, कितनी गर्मी वह पृथ्वीको देता है, कितनी गर्मी और धूप दूसरे ग्रहोंको देता है, आजसे १०० वर्ष पूर्व कितना गर्म था, आज कितना गर्म है, कितनी गर्मी है उसके धरातल पर, कितनी गर्मी रहेगी एक हजार वर्ष बाद आदि अनेक बातें हैं जिसे कोई पूरी तरह नहीं जानता। फिर भी सूर्यको सब जानते हैं। श्रीमद्भगवद्गीताको पूरी तरह विरले ही जान पाते हैं—फिर भी मनुष्यमात्र गीताजीको जान सकते हैं। वे सबको प्रकाश देती हैं, सबका हित करती हैं, सबकी हैं, सबके लिए हैं। गीता आध्यात्मिक जगत्में चमकता हुआ सूर्य है।

जैसे किसी व्यक्तिको तैरना न आनेके कारण वह गंगाजीका पूरा सुख और लाभ न पा सके और किनारे पर ही एक डुबकी लगाकर स्नान कर ले वही हाल मेरा गीताजीके सम्बन्धमें है। मुझे गीताका इतना अल्प ज्ञान है कि मैं गीता-गंगाके किनारे सिर्फ एक अधूरी डुबकी लगा पाया हूँ। पर एक डुबकीसे ही ऐसी ताजगी आई है—ऐसा आनन्द मिला है—कि मेरी इच्छा है कि तुम्हें—अपने बेटेको—हाथ पकड़कर ले चलूँ और एक गोता लगवा दूँ। पर मेरी अपेक्षा है कि तुम एक गोता लगाकर ही सन्तोष नहीं कर लोगे—तैरना सीखोगे और इस ज्ञान-गंगामें तैरकर जीवन सफल करोगे। जैसे गंगा स्नानके लिए एक धोती और एक तौलिया चाहिए, इस ज्ञान गंगामें स्नानके लिए श्रद्धा और विश्वास चाहिए। तो आओ श्रद्धा और विश्वासपूर्वक हम गीताजीसे परिचय प्राप्त करें। तुम्हें जहाँ न समझ आवे पूछते रहना।

गीताकी महिमाका वर्णन करते हुए विद्वानोंने जो वचन कहे हैं उनमें से कुछ सुनो—

१. गीता हमारे धर्मग्रन्थोंका एक अत्यंत तेजस्वी और निर्मल हीरा है।

लोकमान्य तिलक

२. गीता जीवनके सर्वोच्च लक्ष्योंको हृदयंगम करनेमें महत्त्वपूर्ण सहायता देती है।

राधाकृष्णन

३. गीता हमारी सद्‌गुरुरूप है, माता रूप है और हमें विश्वास रखना चाहिए कि उसकी गोदमें सिर रखकर हम सही सलामत पार हो जायेंगे।

गाँधीजी

४. जो मनुष्य गीताका भक्त होता है उसके लिए निराशाकी कोई जगह नहीं है, वह हमेंशा आनन्दमें रहता है।

गाँधीजी

५. जब मेरा मन संदेहोंके कुहासेसे घिर जाता है या मेरी आँखोंके आगे निराशाका अंधेरा छा जाता है, जब मुझे क्षितिज पर प्रकाशकी एक भी किरण दिखायी नहीं देती, उस समय मैं भगवद्‌गीताका सहारा लेता हूँ। उसमें मुझे हमेशा ऐसा कोई वचन मिल जाता है, जिससे मुझे सांत्वना मिलती है और मैं तत्काल कुचल डालने वाले दुःखके बीचमें भी मुसकुराने लगता हूँ। मेरा जीवन बाहरी दुःखदायी घटनाओंसे भरा रहा है, और यदि उन्होंने मेरे ऊपर कोई खास असर नहीं छोड़ा है, तो इसका एकमात्र श्रेय भगवद्‌गीताकी शिक्षाको है।

गाँधीजी

६. भगवद्‌गीता ऐसा असाधारण ग्रन्थ है जिसे प्रत्येक धर्मका मनुष्य आदरके साथ पढ़ सकता है और उसमें अपने धर्मके तत्त्व देख सकता है।

गाँधीजी

७. गीता धर्म-दर्शक कोष है, आत्माकी उलझनको सुलझाने वाली प्रचंड शक्ति है, दीन-दुखियोंका आधार है। सोतेसे जगाने वाली है।

गाँधीजी

८. जैसे अंधेरेमें लालटेन हमें प्रकाश देती है और हमें ठीक मार्ग बताती है, ठीक उसी प्रकार गीता भी हमें कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान कराती है। यह हमें आध्यात्मिक और सांसारिक दोनोंका ऊँचेसे ऊँचा उपदेश देती है।

महामना मालवीयजी

९. गीता संसारका एक अनमोल रत्न है और उसके एक-एक अध्यायमें कितने कितने रत्न भरे पड़े हैं। इसके पद-पद और अक्षर-अक्षरसे अमृतकी धारा बहती है।

महामना मालवीयजी

१०. गीता हिन्दू दर्शन और नीतिशास्त्रके सबसे प्रामाणिक ग्रन्थोंमेंसे एक है और सभी सम्प्रदायोंने उसे इस रूपमें स्वीकार किया है। हमारे युवक और युवतियां यदि उसके चुने हुए श्लोकोंका भी अध्ययन करलें और उसका मनन करें तो वे अपने पूर्वजोंके धर्मको समझ सकेंगे।

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

११. गीता जीती-जागती, जीवन देनेवाली, अमर माता है।

महात्मा गाँधी

१२. गीता उपनिषदोंका भी उपनिषद् है। क्योंकि समस्त उपनिषदोंको दुहकर यह गीतारूपी दूध भगवान्ने अर्जुनके निमित्तसे संसारको दिया है। जीवनके विकासके लिए आवश्यक प्रायः प्रत्येक विचार गीतामें आ गया है। इसीलिए अनुभवी पुरुषोंने यथार्थ ही कहा है कि गीता धर्मज्ञानका एक कोष है।

विनोबा

१३. गीता चाहती है कि मनुष्य अपना व्यवहार शुद्ध करके परमोच्च स्थितिको प्राप्त करे। इसीके लिए गीताका जन्म हुआ है।

विनोबा

गीता सबके लिए है—सब उम्रके स्त्री पुरुषोंके लिए है। गीता तुम्हारे लिए, मेरे लिए, तुम्हारी माँ, बहन तथा मित्रके लिए, बूढे-जवानके लिए, व्यापारी. अध्यापक, मोची, किसान, लोहार, ब्राह्मण, गृहस्थ, ब्रह्मचारी, संन्यासी, पापी, पुण्यात्मा और सब धर्मके माननेवालों के लिए है। गीता प्राचीन होते हुए भी नित्य नवीन है।

तुम्हारी आयु १६ वर्ष और मेरी ६० वर्ष है। अब यदि पूछो कि गीता तुम्हारे लिए अधिक उपयोगी है या मेरे लिए—तो मैं कहूँगा तुम्हारे लिए। तुम्हें वाराणसीसे कलकत्ता जाना है तो उचित यही होगा कि ट्रेनपर बैठनेके पहले ही तुम पूछ-ताछ करलो और रेलवे समय सारिणी देख लो। यदि तुमने पूछ-ताछ नहीं की और वाराणसीसे लखनऊ जानेवाली रेलगाड़ीमें यह सोचकर बैठ गये कि लखनऊ बड़ा शहर है और वहाँसे कलकत्ते जानेकी बहुत सी ट्रेनें मिलेंगी—तों तुमसे गलती हो गयी। वाराणसीसे कलकत्ता जाना सुगम और सस्ता है। गीता जीवन पथकी मार्गदर्शिका है। तुम गीता माताके चरणोंमें सिर नवाकर उनके निर्देशपर चलो तों लक्ष्यतक जल्दी पहुँच जाओगे। मेरी आयुके लोग जो अनेक वर्षोंतक इधर-उधर भटक कर गीताजीकी शरण जाते हैं उनकी अपेक्षा तुम्हारी यात्रा सरल और सुखद रहेगी।

गीता और रामचरितमानस जैसे महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ सरल और मननशील होते हैं। उनमें बालकोंके समझने योग्य सरलता रहती है और विद्वानोंके मनन करने योग्य गूढ़ता और गम्भीरता।

श्री रामचरितमानसके कुछ दोहे, चौपाइयाँ तुमने कक्षा ८ में पढ़ीं थी।

जामवंतके बचन सुहाए। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए॥
तब लगि मोहि परिखेहु तुम भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥
जब लगि आवौं सीतहि देखी। होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी॥
यह कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा॥

अब दसवीं कक्षामें तुम पढ़ रहे हो—

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्हकें कपट दंभ नहि माया। तिन्हकें हृदय बसहु रघुराया॥
सबके प्रिय सबके हित कारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥

स्नातककी कक्षामें तुम पढ़ोगे—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ, सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

स्नातकोत्तर अध्ययनमें तुम्हें नीचे लिखी चौपाइयोंपर बार-बार मनन करना होगा—

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी॥
ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

रामचरितमानस इतनी सरल है कि आठवीं कक्षाके बालक भी

समझ लेते हैं और इतनी कठिन है कि स्नातकोत्तर अध्ययन करनेवाले युवक भी उसके भावार्थको मनन करते रहते हैं।

गीताजी भी इतनी सरल हैं कि उनके कुछ श्लोक दसवीं कक्षाका विद्यार्थी याद कर लेता है और गूढ़ इतनी हैं कि योगी मुनि भी मनन करते रहते हैं पर पार नहीं पाते।

लोकमान्य तिलकने गीताके तत्त्वका विशद विवेचन "गीता रहस्य" में किया है। अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी गीता-रहस्य जन साधारणके लिए सुगम नहीं है। तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण गीतामें गोते लगाकर थाह पाना हम साधारणजनके लिए सम्भव नहीं है। तब क्या करें? बापूजीने गीताको समझनेकी विधि बताई है। बापूजीके ही शब्दोंको सुनो—

"मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गई, पर संकटके समय गीतामाताके पास जाना मैं सीख गया हूँ। मैंने देखा कि जो कोई इस माताकी शरण जाता है, उसे ज्ञानामृतसे वह तृप्त करती है।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता तो महा गूढ़ ग्रन्थ है। स्व० लोकमान्य तिलकने अनेक ग्रंथोंको मनन करके पंडितकी दृष्टिसे उसका अभ्यास किया और उसके गूढ़ अर्थोंको वे प्रकाशमें लाए। उसपर एक महाभाष्यकी रचना भी की। तिलक महाराजके लिए यह गूढ़ ग्रंथ था, पर हमारे जैसे साधारण मनुष्यके लिए वह गूढ़ नहीं है।"

"गीता जीती जागती, जीवन देनेवाली, अमर माता है। दूध पिलाकर पालने-पोसने वाली माता एक दिन चली जायगी। हम देखते हैं, असंख्य माताएँ अपनी सन्तानको तूफानमेंसे बचानेमें असमर्थ रहती हैं, किन्तु गीतामाता-का आश्रय लेने वाला भयंकर तूफानमेंसे उबर जाता है। वह नित्य जाग्रत है। कभी धोका नहीं देती, किन्तु जैसे विना मागे माँ दूध नहीं पिलाती, वैसे ही गीता-माता भी विना माँगे कुछ नहीं देती। वह किसीको अपनी गोदमें लेनेसे पहले उसकी कठिन परीक्षा लेती है, पूर्ण भक्तिकी अपेक्षा रखती है। शुष्क भक्तिसे भी काम नहीं चलेगा। वह अनन्य भक्ति चाहती है। इसलिए जो लोग उसे सर्वार्पण करनेको तैयार नहीं, उन्हें आश्रय देना वह बिल्कुल अस्वीकार कर देती है।"

"तुम उसमें भक्तिपूर्वक प्रवेश करोगे तो जो तुम्हें चाहिये वह उसमेंसे मिलेगा।"

बापूजीने गीताको माता बना लिया और अनन्य भक्ति और विश्वास पूर्वक गीता-माताकी गोदमें बैठ गये। कोई माता कितनी विदुषी और

महिमामयी हो पर बालकके लिए तो वह माता ही है। बालक उसके ज्ञानरूपी प्रखर तेजसे चकाचौंध नहीं होगा बल्कि उसकी गोदमें दुग्ध-पान करेगा और आनन्दसे बैठेगा।

गीता महाभारतका एक अंश है। महाभारत एक महान् धर्म-ग्रन्थ है महाभारत इतिहास नहीं है बल्कि महाकाव्य है, महात्मा गाँधी कहते हैं—
"महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं, बल्कि धर्म-ग्रंथ हैं, या उसे ऐतिहासिक ही कहना चाहें तो वह आत्माका इतिहास है और वह हजारों वर्ष पहले क्या हुआ, यह नहीं बताता, बल्कि प्रत्येक मनुष्य-देहमें क्या जारी है, इसकी वह एक तस्वीर है।

"हमारे हृदयोंमें जो दिन-रात सत् और असत्के बीच सनातन संघर्ष चल रहा है, महाभारतकार उसे इस कथानक द्वारा एक अमर काव्यके रूपमें हमारे सामने प्रस्तुत करता है। वह बताता है कि यद्यपि अंतमें तो सत्यकी ही विजय होती है, तो भी असत् किस तरह सशक्त होकर अत्यन्त विवेकशील पुरुषको भी किंकर्तव्य-विमूढ़ बना देता है। महाभारत सदाचारका एक मात्र मार्ग भी हमें बताता है।"

स्वामी विवेकानन्द गीतापर विचार करते हुए कहते हैं—

"यह मनुष्यका स्वभाव है कि वह किसी महान पुरुषके वास्तविक चरित्रमें तरह-तरहकी काल्पनिक अतिमानवीय विशेषताएँ जोड़ देता है।

"रणक्षेत्रमें, जहाँ विशाल सेना व्यूहबद्ध खड़ी हो और लड़नेके लिए सन्नद्ध हो, बस अन्तिम संकेतकी प्रतीक्षा कर रही हो, ज्ञान, भक्ति और योगके विषयमें इतनी अधिक चर्चा कैसे हो सकती थी? और क्या रणक्षेत्रके कोलाहल और खलबलीमें कृष्ण तथा अर्जुनके संवादके प्रत्येक शब्दको नोट करनेके लिए वहाँ कोई शीघ्रलिपिक उपस्थित था? कुछ लोगोंका कहना है कि कुरुक्षेत्र युद्ध केवल एक रूपक है। जब हम उसके गुह्य अभिप्रायका सारांश निकालते हैं, तो उसका अर्थ उस युद्धसे होता है, जो निरंतर मनुष्यके अन्तःकरणमें उसकी दैवी तथा आसुरी प्रवृत्तियोंमें हो रहा है। यह जगत् ही धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र है।

श्री किशोरलाल घनश्याम मशरूवाला अपनी पुस्तक "गीता-मंथन" में लिखते हैं—

"गीता महाभारतका एक भाग है। सामान्यतः महाभारतको इतिहास कहा जाता है। लेकिन यदि इसे हम सामान्य अर्थमें इतिहास या तवारीख मानें तो भूल होगी। अतः महाभारत इतिहास नहीं, बल्कि ऐतिहासिक काव्य है।

"काव्य, कथा, पुराण आदिकी रचना संवादके रूपमें करनेकी परम्परा हमारे देशमें बहुत पुरानी है। किसी घटना या स्थानका वर्णन करना हो, किसी प्रश्न पर चर्चा करनी हो, किसी विषय पर अपने सिद्धान्त पेश करने हों, तो हमारे देशके कवियोंने साधारणतया संवाद-पद्धतिका ही आश्रय लिया है। गीताके सम्बन्धमें हमें इसी ढंगसे विचार करना चाहिए। हम गीताको श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादके रूपमें पढ़ते हैं, इसलिए यदि यह मानें कि श्रीकृष्ण और अर्जुनके बीच सचमुच ऐसा संवाद हुआ होगा और वह भी कुरुक्षेत्रके युद्धके समय और उसी स्थान पर हुआ होगा तो यह उचित न होगा।"

गीता भवन, इन्दौरमें प्रवचन देते हुए श्री विनोबाने कहा—

"गीता बड़ा विचित्र ग्रंथ है, विलक्षण ग्रंथ है। हर ग्रंथका एक कवच होता है। जैसे कोई भी फल छिलके बिना दिखाता नहीं, कुछ न कुछ छिलका होता है। बाहरकी हवाका खराब असर उसपर न हो, इसलिए बचावके लिए एक छिलका होता है। वैसे धर्म-ग्रंथों पर एक छिलका हुआ करता है। जैसे केलेका छिलका उतारकर अन्दरका खा लेते हैं, वैसे ही धर्म परका छिलका, धर्म-ग्रंथ परका छिलका उतारना पड़ता है और अन्दरका खाना पड़ता है। गीता पर जो छिलका है, वह बहुत कठिन और सख्त है, नारियल जैसा है। गीता-ग्रंथ नारियल के समान है। उसके ऊपरका छिलका हटाना बड़ा कठिन है। अगर बंदरोंके हाथ पड़ जाय, तो वे क्या करेंगे? उनको पता नहीं चलेगा कि अन्दर क्या है। जो उसको छीलना जानेगा, उसे पता चलेगा कि अन्दर सार-गर्भ वस्तु भरी है। ऊपरका ही लेगें तो क्या सिर पर पटकेंगे उसको? क्या करेंगे वे नारियलको लेकर? अतः गीताका जो ऊपरी छिलका है उसमें युद्धकी समस्या खड़ी कर दी है और आमने-सामने भाई-भाई खड़े हैं, कुछ लड़ रहे हैं और अर्जुन है, जो लड़नेसे बाज आ रहा है, परावृत्त हो रहा है। आत्माकी अमरता, देहकी तुच्छता, योग, बुद्धि, भक्ति, ध्यानयोग, त्रिगुणातीत होनेकी वृत्ति और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको पृथक् कराना आदि पचास बातें उनके पीछे लगाकर सारा तत्त्वज्ञान कहकर भगवान् उसको युद्धमें प्रवृत्त कर रहे हैं। अजीब सी बात है कि एक भौतिक युद्धमें और जहाँ भाई-भाई लड़ रहे हैं, ऐसे युद्धमें यह ग्रंथ प्रेरणा दे रहा है। इसीलिए इस ग्रंथके ऊपरके छिलकेके कारण बहुत लोग बहक गये। गीताका असली स्वाद तो ऊपरका छिलका हटाने पर ही आता है।"

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य लिखते हैं—

"कुरुक्षेत्रके युद्धको अक्षरशः स्वीकार करने और उसके आधार पर ही गीता-

का अर्थ लगानेसे विद्यार्थी गीताको सही रूपमें न समझ सकेंगे, उलटे भ्रममें पड़ जानेकी सम्भावना है।.........संस्कृत साहित्यमें महान् ग्रंथोंको इस प्रकारकी पीठ-भूमिकासे प्रारम्भ करनेकी साधारण पद्धति है। सनातन धर्मके एक ग्रंथके रूपमें गीताका अध्ययन करते समय हमें युद्ध-भूमि का दृश्य भुला देना चाहिये।"

बेटा, तुम कुछ अनमनेसे लगते हो, तुम्हें यह चर्चा बहुत रुचिकर नहीं लग रही है। पर गीताकी शिक्षाको हृदयंगम करनेके लिए तुम्हें यह अच्छी तरह समझ लेना है कि गीतामें भौतिक युद्धके वर्णनके बहाने प्रत्येक मनुष्यके हृदयके भीतर निरन्तर होते रहनेवाले युद्धका ही वर्णन है।

श्रेष्ठ कविकी कल्पना कैसे सजीव हो उठती है इसका एक नमूना मैथिलीशरण गुप्तकी अनूठी कृति "यशोधरा" है। तुम जानते हो गौतम बुद्ध कपिलवस्तुके महाराज शुद्धोदनके पुत्र थे। उनका नाम सिद्धार्थ भी था। युवावस्था प्राप्त करने पर सिद्धार्थका विवाह राजकुमारी यशोधरासे हुआ। यशोधरा बड़ी रूपवती थी। शुद्धोदनने सिद्धार्थके लिए सुन्दर महल बनवाया और उन्हें रमणीय वातावरणमें रखा जिससे संसारके दुःख कष्ट उनकी दृष्टिसे ओझल रहें। उन्हें एक पुत्र हुआ जिसका नाम राहुल रखा गया।

एक दिन एक रोगी, एक वृद्ध और एक मृतक शरीरपर उनकी निगाह पड़ ही गयी और वे संसारमें व्याप्त दुःख क्लेशसे व्यथित हो गए। उन्हें समस्त भोग-विलाससे विराग उत्पन्न हुआ और दुःख निवारणका उपाय खोजनेकी इच्छा बलवती हुई।

एक रात जब उनकी पत्नी और पुत्र सो रहे थे सिद्धार्थ उठे और इस विचारसे कि यदि यशोधरासे कहकर जाना चाहेंगे तो गृह-त्यागमें विघ्न उपस्थित हो सकता है, यशोधराको बिना जगाये उससे बिना कुछ कहे वे महलसे निकल आये और रथ पर सवार होकर नगरके बाहर चले गये। अपने राज्यकी सीमा पर पहुँचकर उन्होंने रथको लौटा दिया और राजकीय वेश-भूषा छोड़कर संन्यासीके वस्त्र पहन लिए। निरंजना नदीके तटपर गौतमने तपस्या आरम्भ की। कई वर्ष वे कठोर तप करते रहे। उनका शरीर क्षीण हो गया पर उन्हें सिद्धि-लाभ न हुआ। विचार करने पर उन्हें घोर तपस्याका मार्ग उचित नहीं जान पड़ा—उन्होंने मिताहार करके योगसाधन करना ठीक समझा। सुजाता नाम-

को एक स्त्रीने उन्हें खीर खिलाई, उसे खाकर गौतम तृप्त हुए। निरंजना नदी पार कर गयाके पास उन्होंने एक अश्वत्थ वृक्षके नीचे पुनः समाधि लगाई और वहीं उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। गौतम अब गौतम बुद्ध हो गये।

कपिलवस्तु जब यह समाचार पहुँचा—शुद्धोदनने गौतमको बुलाने का भगीरथ प्रयत्न किया। गौतम बुद्ध कपिलवस्तु पधारे। सबने उनका उचित सम्मान किया। परन्तु यशोधरा उस समारोहमें सम्मिलित नहीं हुई। उसने कहा—भगवान्‌की मुझपर कृपा होगी तो वे स्वयं ही मेरे समीप आवेंगे। तब गौतम ही उसके पास गये और उसे धर्मका उपदेश दिया। इतना तो इतिहास बताता है।

मैथिलीशरण गुप्त यथार्थकी पृष्ठभूमि पर कल्पनाका सहारा लेकर पाठकोंके समक्ष यशोधराका ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं जिसमें यशोधरा स्वयं ही बोलती नजर आती है। ऐसा लगता है कि मैथिलीशरण शुद्धोदनके महलमें बैठे थे और जब-जब यशोधराके उद्‌गार निकले उन्होंने नोट कर लिया। गुप्तजीकी "यशोधरा" की कुछ मधुर छटा देखो। एक दिन यशोधरा अपनी सखीसे कहने लगी—

सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरवकी बात,
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उसीको जाना,
जो वे मनमें लाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
स्वयं सुसज्जित करके क्षणमें,
प्रियतमको, प्राणों के पणमें,
हमीं भेज देती हैं रणमें—
क्षात्र-धर्म के नाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा ?
जिसने अपनाया था, त्यागा।

रहें स्मरण ही आते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते,
पर इनसे जो आँसू बहते,
सदय हृदय वे कैसे सहते?
गये तरस ही खाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
जायँ, सिद्धि पावें वे सुखसे,
दुखी न हों इस जनके दुखसे,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुखसे?
आज अधिक वे भाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।
गये, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे?
रोते प्राण उन्हें पावेंगे?
पर क्या गाते गाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

एक दिन यशोधरा अकेलेमें गुनगुना बैठी—

गये हो तो यह ज्ञात रहे,
स्वामी! व्यर्थ न दिव्य देह वह,
तप-वर्षा-हिम-वात सहे।
बहे उधर गंगाकी धारा,
इधर तुम्हारी गिरा अपारा,
प्लावित करदे अग जग सारा,
हाँ, युग-युग अवदात रहे।
गये हो तो यह ज्ञात रहे।
मुझे मिलोगे भला कहीं तो,
वहाँ सही, यदि यहाँ नहीं तो,
जहाँ सफलता, मुक्ति वहीं तो,
यशोधराकी बात रहे।
गये हो तो यह ज्ञात रहे।

जब भगवान सिद्धि प्राप्त करके कपिलवस्तु पधारते हैं—यशोधरा अपनेको जबरन रोकती है। यदि भगवान उसे अपनी सिद्धिमें विघ्न

समझ कर उससे बिना बोले चले गये तो वह उनकी साधनामें बाधा क्यों बने ? यशोधरा अपने मन ही मन कहती है—

रे मन, आज परीक्षा तेरी,
विनती करती हूँ मैं तुझसे,
बात न बिगड़े मेरी।
अब तक जो तेरा निग्रह था,
बस, अभावके कारण वह था,
लोभ न था, जब लाभ न यह था,
सुन अब स्वागत भेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी।
दो पग आगे ही वह धन है,
अवलम्बित जिसपर जीवन है।
पर क्या पथ पाता यह जन है ?
मैं हूँ और अंधेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी।
यदि वे चल आये हैं इतना,
तो दो पग उनको है कितना ?
क्या भारी वह, मुझको जितना ?
पीठ उन्होंने फेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी।
सब अपना सौभाग्य मनावें,
दरस-परस, निःश्रेयस पावें।
उद्धारक चाहें तो आवें,
यहीं रहे यह चेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी।

गुप्तजीको अपने काव्यमें भारतीय नारीके त्याग और तपस्याकी झलक दिखलानी थी। उन्हें बताना था कि भारतीय नारी सुपथमें पग धरनेके इच्छुक पुरुषकी पथ-बाधा नहीं बनती। भारतीय नारी अपने पतिसे इस जन्ममें किसी कारण बिछुड़ जाये तो अगले जन्ममें मिलनेकी आशा रखती है। और यह सब बात उन्होंने यशोधरासे कैसी खूबीसे कहला दी है। गौतम यशोधराके जीवन धन हैं, उद्धारक हैं फिर भी उनके दर्शनके लिए उसके कदम आगे नहीं बढ़ते क्योंकि "पीठ उन्होंने फेरी।"

श्री रामचरितमानसमें भी गोस्वामी तुलसीदासजीको भारतीय दर्शन शास्त्रका मुख्य संदेश या अपने लोक-रंजक काव्यमें मूलभूत जीवन सिद्धांत का निर्देश करना होता है तो वे श्रीरामके श्री मुखसे उसे कहलाते हैं और प्रायः प्रश्नोत्तरके रूपमें—

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना।।
सुर नर मुनि सचराचर साइँ। मैं पूछउँ निज प्रभुकी नाइँ।।
मोहि समुझाई कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा।।
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेंहि दाया।।
ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ।।

श्री राम ने कहा—

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई।।
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया।।
गो गोचर जँह लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ।।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा।।
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।।
ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।।
कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी।।

अब तुम्हें यह बात ठीक समझ में आ गई होगी कि कवि शिरोमणि महान् ज्ञानी और कर्मयोगी व्यास ने गीतामें जीवनकी कला, अनासक्ति-की महिमा और स्थितप्रज्ञकी जीवनचर्याका विवेचन श्रीकृष्णके मुख से इसलिए कराया है कि श्रीकृष्ण महाभारतके प्रमुख पात्र और असाधा-रण प्रतिभावाले महान् योगी, ज्ञानी, महापुरुष हैं। कर्मयोगी, स्थितप्रज्ञकी महिमाका वर्णन अपने समयके सर्वश्रेष्ठ कर्मयोगीके मुखसे सुननेको मिले तो सोनामें सुगंध आ जाती है। इसलिए यह जानते हुए भी कि गीताजी व्यासकी प्रकांड विद्वत्ता और कर्मसाधनाकी उपज हैं हम गीता जीको श्रीभगवानके मुखसे प्रकट हुई सुनकर बड़े आनन्दित होते हैं। हम व्यासजीके चरणोंमें श्रद्धासे नत-मस्तक होते हैं कि उनका चिन्तन इतना निरभिमानी और लोक-हितचिन्तक था कि अपने महाकाव्यका मुख्य संदेश उन्होंने श्रीभगवानके मुखसे कहलाया और अपनेको नेपथ्यमें रखा। यह शंका निराधार है कि गीताको श्री भगवानके मुखसे प्रकट न मानकर व्यासजीकी रचना मान लें तो गीताकी महिमा घट जायगी। भारतीय

समाजका निरंतर उपकार करनेवाली गंगा जिससे उत्तर भारतकी भूमि जलप्लावित हुई, हरी-भरी हुई, जिसके तटपर बैठकर अनेक मुनियों और साधु संतोंने तपस्या की, जिसका सारा जीवन अहर्निश परहितमें लगा है, ऐसी गंगा यदि विष्णु-चरणसे न प्रवाहित होकर हिमालयसे निकली हो तो क्या उसका महत्त्व, उसकी महिमा कम हो जायगी ? गंगा और गीताकी महिमा तो सर्वदा बनी रहेगी क्योंकि उन्होंने परहित, जनकल्याण और अनासक्तिका मार्ग सुझाया है। इतना जान लेनेपर तुम्हारी अनेक शंकाएँ अपने आप शान्त हो जायेंगी। अब तुमसे एक आग्रह करना है। यदि कोई तुम्हारी इस धारणाका विरोध करे और उसकी यही मान्यता हो कि गीता को श्रीभगवान ने अर्जुन के लिए रण-भूमिपर ही गाया तो तुम बहसमें मत पड़ना।

व्यासजी महाराज गीताकी महिमाका महाभारतमें ही वर्णन करते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गंगा सर्ववेदमयो मनुः ॥
गीता गंगा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ॥

व्यासकी विनम्रता थी कि यह जानते हुए भी कि महाभारतरूपी महासागरमेंसे गीता रूपी एक गागर अमृत निकल आया है उन्होंने उसे ईश्वर कृपा माना। उन्होंने जो उपदेश दिया उसका स्वयं आचरण किया—अपनेको निमित्तमात्र मानकर उन्होंने इस अमृतको कृष्णार्पण कर दिया। व्यासजी पद्मपत्रमिवाम्भसा गीताकी रचनासे अलिप्त हो गए और श्रीभगवानने उसे अपना लिया। प्रातःस्मरणीय व्यासका ऐसा समर्पण—ऐसी कर्म फल त्यागकी भावना बारंबार वन्दनीय है।

गीता महाभारतका एक अंश है। गीता में १८ अध्याय एवं ७०० श्लोक इस प्रकार हैं—

अध्याय	नाम	श्लोक संख्या
१	अर्जुनविषादयोग	४७
२	सांख्ययोग	७२
३	कर्मयोग	४३

४	ज्ञानकर्मसंन्यासयोग	४२
५	कर्मसंन्यास योग	२९
६	ध्यानयोग	४७
७	ज्ञानविज्ञानयोग	३०
८	अक्षरब्रह्मयोग	२८
९	राजविद्याराजगुह्ययोग	३४
१०	विभूतियोग	४२
११	विश्वरूपदर्शनयोग	५५
१२	भक्तियोग	२०
१३	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग	३४
१४	गुणत्रयविभागयोग	२७
१५	पुरुषोत्तमयोग	२०
१६	दैवासुरसंपद्‌विभागयोग	२४
१७	श्रद्धात्रयविभागयोग	२८
१८	मोक्षसंन्यासयोग	७८
		७००

१	श्लोक धृतराष्ट्रने कहा है
४१	श्लोक संजयने कहा है
८४	श्लोक अर्जुनने कहा है
५७४	श्लोक श्रीभगवानने कहा है
७००	

अध्याय	धृतराष्ट्र	संजय	अर्जुन	श्रीभगवान	पूर्ण संख्या
१	१	२५	२१	×	४७
२	×	३	६	६३	७२
३	×	×	३	४०	४३
४	×	×	१	४१	४२
५	×	×	१	२८	२९
६	×	×	५	४२	४७
७	×	×	×	३०	३०
८	×	×	२	२६	२८
९	×	×	×	३४	३४

१०	×	×	७	३५	४२
११	×	८	३३	१४	५५
१२	×	×	१	१९	२०
१३	×	×	×	३४	३४
१४	×	×	१	२६	२७
१५	×	×	×	२०	२०
१६	×	×	×	२४	२४
१७	×	×	१	२७	२८
१८	×	५	२	७१	७८
	१	४१	८४	५७४	७००

गीता पद्यमें है। गीतामें अनुष्टुप् और त्रिष्टुप्—दो प्रकारके छन्द हैं।

अनुष्टुप् छन्दके प्रत्येक चरणमें ८ अक्षर होते हैं और पूरा श्लोक ३२ अक्षरोंका होता है। त्रिष्टुप् छन्दके प्रत्येक चरणमें ११ अक्षर होते हैं और पूरा श्लोक ४४ अक्षरोंका होता है। गीतामें ७०० श्लोक हैं, उनमें ६४५ श्लोक अनुष्टुप् और ५५ श्लोक त्रिष्टुप् छन्दके हैं। ग्यारहवें अध्यायका पहला श्लोक ३३ अक्षरोंका है। इसकी गणना अनुष्टुप् छन्दोंमें की जाती है। दूसरे अध्यायका छठा श्लोक ४६ अक्षरोंका है तथा दूसरे अध्यायका उन्तीसवाँ, आठवें अध्यायका दसवां और पंद्रहवें अध्यायका तीसरा श्लोक ४५ अक्षरोंके हैं। इन चारो श्लोकोंकी गणना त्रिष्टुप् छन्दोंमें की जाती है।

छन्दके बारेमें थोड़ासा ज्ञान हो जानेपर तुम्हें गीता पढ़नेमें सुविधा होगी। उदाहरणके लिए अनुष्टुप् छन्दवाला श्लोक सुनो।

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

इस श्लोकमें चार चरण हैं। प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर हैं। आधे अक्षरकी गणना नहीं की जाती। 'सुख दु:खे समेकृत्वा' एक चरण है। इस श्लोकको तुम इस प्रकार पढ़ो। मनमें चार भाग कर लो। 'सुखदु:खे समेकृत्वा' पढ़कर जरा रुको। लाभालाभौ जयाजयौ' पढ़कर जरा अधिक रुको। 'ततो युद्धाय युज्यस्व' पढ़कर उतना ही रुको जितना 'सुख-दु:खे समेकृत्वा' पढ़कर रुके थे। तब 'नैवं पापमवाप्स्यसि' पढ़ो।

अब एक त्रिष्टुप् छन्द सुनो—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

इसे तुम प्रत्येक चरणपर थोड़ा-थोड़ा रुक कर आसानीसे पढ़ सकते हो।

अब आओ गीता पढ़ना प्रारम्भ करें—

गीताका प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजय उन्हें बताते हैं कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुनमें क्या बातचीत हुई ? प्रथम अध्यायके प्रथम श्लोकमें धृतराष्ट्रने प्रश्न किया है और अन्तिम अठारहवें अध्याय तक संजय उन्हें श्रीकृष्ण और अर्जुनके बीच हुए संवादको सुना रहे हैं।

धृतराष्ट्रने संजयसे कहा—मुझे बतलाओ कि धर्मके क्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्ध करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ?

संजयने कहा—राजा दुर्योधन पाण्डवोंकी सेनाको व्यूह रचनामें खड़ी देखकर द्रोणाचार्यके पास जाकर दोनों ओरके मुख्य-मुख्य योद्धाओं का वर्णन करता है। दोनों ओरके शंख बजने लगते हैं। अर्जुनका रथ हाँकने वाले भगवान श्रीकृष्ण अर्जुनके कहनेपर रथको दोनों सेनाओंके बीचमें लाकर खड़ा कर देते हैं। स्वजनोंको युद्धके लिए खड़ा देखकर अर्जुनको विषाद होता है। उदास हो जाता है और श्रीकृष्णसे कहता है "मैं इन लोगोंसे कैसे लड़ सकता हूँ ? ये सब अपने हैं—स्वजन हैं। चचेरे भाई-बन्धु हैं। हम सब एक साथ पले हैं। द्रोण मेरे भी आचार्य हैं। भीष्म हम सबके आदरणीय हैं। उनके साथ लड़ाई कैसे होगी ? कौरवोंने हमारे साथ कुछ भी अन्याय क्यों न किया हो पर मैं उन्हें मार नहीं सकता।"

अर्जुनका वचन सुनो—

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।।
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।

हे कृष्ण मुझे विजय नहीं चाहिये और न राज्य चाहिए। सुख भी नहीं चाहिये। मुझे राज्यसे, सुख-भोगसे यहाँ तक कि जीवित रहकर भी क्या करना है? निःशस्त्र और सामना न करने वाले मुझको यदि धृतराष्ट्रके शस्त्रधारी पुत्र रणमें मार भी डालें, तो वह मेरे लिए कल्याण-कारी होगा।

ऐसा कहकर शोकसे उद्विग्न मनवाला अर्जुन धनुष बाण त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गया।

प्रथम अध्याय यहाँ समाप्त हो जाता है।

कुरुक्षेत्रका युद्ध प्रतीक है उस आन्तरिक युद्धका जो मानव देहमें सक्रिय है। हमारा शरीर कुरुक्षेत्र है तथा धर्मक्षेत्र भी है। यदि इसे हम ईश्वरका निवास-स्थान समझें और बनावें तो यह धर्मक्षेत्र है। क्योंकि नर-देह से ही धर्मकी, आत्मदर्शनकी साधना हो सकती है। इस शरीरके अन्दर भले और बुरे विचारोंकी, सद्‌गुणों और दुर्गुणोंकी लड़ाई हमेशा चलती रहती है। दुर्गुणोंका प्रबल होना कौरवोंकी जीत है, सद्‌गुणोंका प्रबल होना पाण्डवोंकी जीत है। जब तक जीवन है यह युद्ध समाप्त नहीं होता। युद्ध चलता ही रहता है। इस युद्धका चलता रहना ही जीवन है। जीवन संग्राममें जब मनुष्य राग-द्वेषके कारण अपने-पराये-का भेद-भाव करने लगता है तब अपने कर्तव्य कर्मका निर्णय नहीं कर पाता। अस्थिरचित्त हो जाता है। विषादयुक्त हो जाता है। ऐसी विषम परिस्थितिमें मनुष्यको मार्गदर्शनके लिए गीतामाताकी शरण जाना चाहिये।

■

संजयने कहा—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

इस प्रकार करुणासे दीन बने हुए और आँसुओंसे भरे शोकयुक्त अर्जुनसे मधुसूदनने यह वचन कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

हे अर्जुन ! इस विषमस्थलमें यह मोह तुम्हें किस हेतु प्राप्त हुआ क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषोंसे आचरण किया गया है, न स्वर्गको देने-वाला है, न कीर्ति बढ़ाने वाला है ।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

हे पार्थ तू नामर्द मत बन । यह तेरे लिए योग्य नहीं है । हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्याग करके तू उठ ।

अर्जुनने कहा—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

अर्जुनने कहा—

भीष्मको और द्रोणको रणभूमिमें बाणोंसे मैं कैसे मारूँ ? वे दोनों ही पूजनीय हैं।

महानुभाव गुरुजनोंको मारनेके बदले इस लोकमें भिक्षा माँग कर निर्वाह कर लेना मैं श्रेयस्कर मानता हूँ। गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा।

हमलोग यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए क्या करना उचित है ? यह भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे सामने खड़े हैं।

दीनतासे मेरी स्वाभाविक वृत्ति मारी गयी है। जिसमें मेरा हित हो वह निश्चयपूर्वक कहिए। मैं आपका शिष्य हूँ। आपकी शरणमें आया हूँ। मुझे मार्ग बतलाइये।

क्योंकि इस लोकमें धनधान्य सम्पन्न निष्कण्टक राज्यको और स्वर्ग को प्राप्त करके भी, मैं उस उपायको नहीं पाता हूँ, जो मेरी इन्द्रियोंको सुखा डालने वाले मेरे इस शोकको दूर कर सके।

गीतामें श्रीकृष्णके अनेक सम्बोधनात्मक नाम हैं—जैसे अच्युत, अनन्त, अरिसूदन, केशव, गोविन्द, परमेश्वर, जगत्पते, जगन्निवास, जनार्दन, मधुसूदन, माधव, पुरुषोत्तम इत्यादि।

गीतामें अर्जुनके लिए अनेक सम्बोधनात्मक नाम हैं—जैसे अर्जुन, अनघ, कौन्तेय, पार्थ, धनञ्जय, पाण्डव, परंतप, भारत, महाबाहो, कुरुश्रेष्ठ, गुडाकेश इत्यादि।

श्लोकोंका हिन्दी अर्थ करते समय सम्बोधनात्मक नामोंका मैं प्रयोग नहीं कर रहा हूँ।

मैं तुम्हें दूसरा अध्याय पूरा सुना रहा हूँ। तीसरा अध्याय भी पूरा सुनाऊँगा। फिर चारसे लेकर ग्यारह अध्याय तकके कुछ श्लोक सुनाऊँगा। बारहवाँ अध्याय पूरा सुनाऊँगा और तेरह से अठारह तक के कुछ श्लोक सुनाऊँगा।

मैं चाहता हूँ कि तुम दूसरा, तीसरा और बारहवाँ अध्याय कंठस्थ करलो। तुम मन लगाओगे तो जल्दी ही याद हो जायगा—और आगे आने वाले वर्षोंमें तुम्हें बड़ा आनन्द आयेगा।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजयने कहा—

हे राजन। गुडाकेश अर्जुन हृषीकेश गोविन्दसे ऐसा कहकर "मैं युद्ध नहीं करूँगा" चुप हो गया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

इन दोनों सेनाओंके बीचमें उदास होकर बैठे हुए अर्जुनसे मुस्कराते हुए श्रीभगवानने कहा—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

तू शोक न करने योग्यका शोक करता है और पण्डितोंके से वचन बोलता है। पण्डितलोग मृत या जीवित किसीका शोक नहीं करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था, अथवा तू नहीं था, या राजालोग नहीं थे। और न ऐसा ही है कि हम सब भविष्यमें नहीं रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जिस प्रकार देहधारीको इस शरीरमें बालपन, जवानी और बुढ़ापा प्राप्त होता है, उसी प्रकार दूसरी देह भी प्राप्त हुआ करती है। इस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।।१४।।

इन्द्रियोंके स्पर्श सरदी-गरमी, सुख और दुःख देने वाले होते हैं। वे अनित्य हैं, आते हैं और जाते हैं। उनको तुम सहन करो।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वायकल्पते ।।१५।।

सुख दुःखमें सम रहनेवाले जिस धैर्यवान पुरुषको ये इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं करते वह मोक्षके योग्य बनता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।१६।।

असत् वस्तुका अस्तित्व नहीं है और सत्का नाश नहीं है। इन दोनोंका तत्व ज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।।१७।।

जिससे सम्पूर्ण जगत व्याप्त है उसे तू अविनाशी जान। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।१८।।

नित्य रहनेवाले, अपरिमित और अविनाशी जीवात्माके ये सब देह नाशवान हैं इसलिए तू युद्ध कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।१९।।

जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है या जो इसे मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते हैं क्योंकि यह आत्मा न मारता है न मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।२०।।

यह आत्मा न कभी जन्मता है न मरता है। यह था और भविष्य में नहीं होगा ऐसा भी नहीं है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है। शरीरका नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।२१।।

जो पुरुष इस आत्माको नाशरहित, नित्य अजन्मा और अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।२२।।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्र धारण करता है वैसे जीवात्मा (देहधारी) जीर्ण हुई देहको त्यागकर दूसरी नयी देह पाता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।२३।।

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, आग नहीं जला सकती, पानी नहीं भिगो सकता, वायु नहीं सुखा सकता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।२४।।

कभी न कटनेवाला, न जलनेवाला, न भीगनेवाला और न सूखनेवाला यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२५।।

यह आत्मा इंद्रिय और मनके लिए अगम्य है, विकाररहित कहा गया है। ऐसा जानकर तुझे शोक नहीं करना चाहिए।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।२६।।

यदि तू इस आत्माको सदा जन्मने और सदा मरनेवाला माने तो भी तुझे शोक करना उचित नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२७।।

क्योंकि ऐसा होनेसे तो जन्मनेवालेकी निश्चित मृत्यु और मरने वालेका जन्म अनिवार्य हुआ। अतः जो अनिवार्य है उसका शोक करना उचित नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।।२८।।

भूतमात्रकी जन्मके पहले और मृत्युके बादकी अवस्था देखी नहीं जा सकती। वह अव्यक्त है, बीचकी ही स्थिति व्यक्त होती है। इसमें चिंता का क्या कारण है?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।।२९।।

यह आत्मतत्व बड़ा गहन है। कोई इसे आश्चर्यवत् देखता है, कोई इसे आश्चर्य समान वर्णन करता है। कोई इसे आश्चर्यवत् सुनता है। परन्तु सुनने पर भी कोई इसे जानता नहीं है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।३०।।

यह आत्मा सबके शरीरमें सदा ही अवध्य है। इसलिए समस्त प्राणियोंके लिए तुझे शोक करना उचित नहीं है।

श्रीभगवानने अनेक श्लोकों द्वारा, बहुत प्रकारसे अर्जुनको यह समझाया कि आत्मा अमर है और नित्य है तथा देह नाशवान है और

अनित्य है इसलिए देहनाशका शोक नहीं करना चाहिए। अब स्वधर्मका बोध कराते हैं।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

स्वधर्मको समझकर भी तुझे हिम्मत हारना उचित नहीं है, क्योंकि धर्मयुद्धकी अपेक्षा क्षत्रियके लिए और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

अपने आप प्राप्त हुआ और खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान क्षत्रिय ही पाते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

यदि तू यह धर्मप्राप्त युद्ध नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

सबलोग बहुत काल तक तेरी निंदाकिया करेंगे। सम्मानित पुरुषके लिए अपकीर्ति मरणसे भी बुरी है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

जिन महारथियोंसे तूने मान पाया है, वे तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

तेरा हित न चाहनेवाले लोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए बहुतसे न कहने योग्य वचनोंको कहेंगे। इससे अधिक दुःखदायी और क्या होगा?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

यदि तू युद्धमें मारा जायगा तो स्वर्ग प्राप्त होगा, जीतेगा तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा । अतः युद्धके लिए निश्चय करके तू खड़ा हो जा ।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख और दुःख, लाभ और हानि, जय और पराजयको समान समझकर युद्धके लिए तैयार हो । ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

मैंने तुझे ज्ञानकी बातें बतायीं । अब जिस बुद्धिसे युक्त होने पर तू कर्मबन्धनको छोड़ सकेगा उस कर्मयोगकी बातें सुन—

सांख्य और योगका अर्थ विनोबाकी पुनीत वाणीमें सुनो—

"भगवानने जीवनके सिद्धांत बताये तो, किन्तु केवल सिद्धांत बतादेनेसे काम पूरा नहीं हो सकता । गीतामें वर्णित ये सिद्धांत तो उपनिषदों और स्मृतियोंमें पहलेसे ही मौजूद हैं । गीताने उन्हींको फिरसे उपस्थित किया, तो इसमें गीताकी अपूर्वता नहीं है । उसकी अपूर्वता तो यह बतलानेमें है कि इन सिद्धांतोंको आचरणमें कैसे लायें ? इस महाप्रश्नको हल करनेमें ही गीताकी कुशलता है ।

जीवनके सिद्धांतोंको व्यवहारमें लानेकी जो कला या युक्ति है उसीको योग कहते हैं । सांख्यका अर्थ है—सिद्धांत अथवा शास्त्र और योगका अर्थ है कला । गीता सांख्य और योग-शास्त्र और कला-दोनोंसे परिपूर्ण है । शास्त्र और कला दोनोंके योगसे जीवन-सौन्दर्य खिलता है । कोरा शास्त्र हवाई महल है ।"

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इस मार्गमें किया गया कोई प्रयत्न कभी नष्ट नही होता और न कोई बाधा ही बनी रहती है । कर्मयोगका थोड़ासा पालन भी महाभयसे बचा लेता है ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

कर्मयोगीकी बुद्धि एकरूप व दृढ़ होती है। अनिश्चित मन वाले लोगोंके विचार अनेक दिशाओंमें बिखरे रहते हैं। उनकी बुद्धि स्थिर नहीं रहती।

यामिमां पुष्पितां वाच प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

जो भोगोंमें तन्मय हो रहे हैं और कर्मफलके प्रशंसक वेद वाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं, जो स्वर्ग प्राप्तिको ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ समझते हैं, ऐसे अविवेकी लोगोंका चित्त भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिए नाना प्रकार की बहुतसी क्रियाओंको वर्णन करने वाली वाणीमें आकृष्ट हो जाता है। भोग-ऐश्वर्यमें आसक्त मनुष्योंकी बुद्धि न तो निश्चय वाली होती है और न वह समाधिमें स्थिर हो सकती है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

जो तीन गुण (सत्य, रज, तम) वेदके विषय हैं, उनसे तू अलिप्त रह। सुख—दुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त हो। नित्य सत्य वस्तुमें स्थित रह। किसी वस्तुको पाने और संभालनेके झंझटसे मुक्त रह। आत्मपरायण हो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशयसे मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है (अर्थात कुछ भी नहीं रहता), उतना ही प्रयोजन ज्ञान—प्राप्त ब्रह्मपरायणको वेदका रहता है अर्थात काम्य—कर्मरूपी वैदिक कर्मकाण्डकी उसे कुछ आवश्यकता नहीं रहती।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।४७।।

इस सुन्दर श्लोकका श्रीसियारामशरण गुप्तका किया पद्यानुवाद सुनो।

कर्म का अधिकारी तू, कदापि फल का नहीं।
हो तुझे न फलाकांक्षा, न हो मोह अकर्म में ।।

कर्ममें ही तुझे अधिकार है, उससे उत्पन्न होने वाले अनेक फलोंमें कदापि नहीं। कर्मका फल तेरा हेतु न हो। कर्म न करनेका भी तुझे आग्रह न हो।

अव श्लोकको पदच्छेद करके सुनो—

कर्मणि, एव, अधिकारः, ते, मा, फलेषु कदाचन,
मा, कर्मफलहेतुः, भूः, मा, ते, सङ्गः, अस्तु, अकर्मणि ।।

ते	= तेरा		कर्मफलहेतुः	= कर्म के फल में हेतु (इच्छा) रखने वाला
कर्मणि	= कर्म करने में		मा भूः	= मत हो
एव	= ही		ते	= तेरी
अधिकारः	= अधिकार है		अकर्मणि	= कर्म न करने में (भी)
फलेषु	= फलों में		सङ्गः	= आसक्ति (आग्रह)
कदाचन	= कभी		मा	= न
मा	= नही (तू)		अस्तु	= हो।

क्या यह श्लोक सरल नहीं है?

कुछ वर्षों पहले मैं आबू पर्वत गया। आबू राजस्थानमें एक सुन्दर पहाड़ी है। वहाँ पर घूम रहा था कि मेरी निगाह पुलिस एकेडमीमें वोर्डपर लिखी एक अंग्रेजी कवितापर गयी।

When the Great Scorer comes
To write against your name
He writes not whether you won or lost
But how you played the game

यहाँ पर Great Scorer शब्द ईश्वरके लिए आया है।

शब्दार्थ यह है—जब महान निर्णायक आवेगा तो वह इस बातको महत्त्व नहीं देगा कि तुम खेलमें जीते या हारे पर वह महत्व इस बातको देगा कि तुमने खेल कैसे खेला ?

भावार्थ—ईश्वर इस बातको महत्व नहीं देता कि तुमने जीवनमें कितनी सफलता या असफलता प्राप्तकी। वह इस बातको महत्व देता है कि तुमने कैसा कर्म किया।

इस अंग्रेजी कविताको पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई। गीताजी केवल आधे श्लोकमें ही इसी बातको कह देती हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

गीताजी इतना कहकर ही चुप नहीं हो जातीं कि तुम्हें सफलता असफलताकी चिन्ता किये बिना कर्म करना चाहिये पर वे आगेकी वात भी कहती हैं।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

"तुझे फलकी वासना न रहे और तेरी कर्ममें अरुचि भी न हो"

इतने थोड़े शब्दोंमें, इतनी सरल संस्कृतमें महान कर्मयोगका ज्ञान गीताके सिवा कौन दे सकता है ? ऊँचे से ऊँचे विचार, सरलसे सरल शब्दोंमें। गीता माँ तुझे वारम्बार प्रणाम है।

श्रीविनोबा "गीता प्रवचन" में कहते हैं—

"जो कर्म करते हैं, उनकी दोहरी भावना होती है। एक तो यह कि अपने कर्मका फल हम अवश्य चखेंगे। यह हमारा अधिकार है। और इसके विपरीत दूसरी यह कि यदि हमें फल चखनेको नहीं मिलता हो, तो हम कर्मही नहीं करेंगे। गीता इन दो के अतिरिक्त एक तीसरी ही भावना या वृत्ति बताती हैं। वह कहती है कर्म तो अवश्य करो, पर फलमें अपना अधिकार मत मानों। जो कर्म करता है उसे फलका अधिकार अवश्य है। परन्तु तुम उस अधिकारको स्वयं ही छोड़ दो।"

उसी प्रसंगमें विनोबा आगे कहते हैं—"सकाम पुरुषके कर्मकी अपेक्षा निष्काम पुरुषका कर्म अधिक अच्छा होना चाहिये। यह अपेक्षा उचित ही है, क्योंकि सकाम पुरुष तो फलासक्त है, इसलिए फल संबंधी स्वप्न चिंतन में उसका थोड़ा बहुत समय और शक्ति अवश्य लगेगी। परन्तु फलेच्छा-रहित पुरुषका तो प्रत्येक क्षण और सारी शक्ति कर्ममें ही लगी रहेगी। गीता जब मनुष्यकी दृष्टि कर्म-फलसे हटा लेती है, तो वह इस तरकीबसे कर्ममें उसकी तन्मयता सौगुनी बढ़ा देती है।"

मैं एक उदाहरण देकर फलत्यागकी महिमा तुम्हें बताता हूँ।

एक गृहस्थ महेशप्रसाद अपने व्यवसायसे और अपने गृहस्थीके कार्यों से थोड़ा समय निकाल कर नेत्रहीनोंकी सेवा करता है। एक नेत्रहीन विद्यालयमें वह जाता है—नेत्रहीन बच्चोंकी शिक्षा, उनका भोजन, सुख-सुविधामें रुचि लेता है। विद्यालयके बच्चे और अध्यापक भी उसे प्यार करने लगते हैं। विद्यालयकी कार्यसमिति उसके सुझाव सुनती है। महेशप्रसाद एक वर्षसे विद्यालयकी सतत सेवा कर रहा है। अब विद्यालयका वार्षिकोत्सव मनाया जाने वाला है। विद्यालयके कुछ सदस्य अधिक उत्साह दिखलाते हैं। प्रदेशके समाजकल्याण मंत्रीकी अध्यक्षतामें वार्षिकोत्सव मनाया जाता है। उत्सवकी अनेक फोटो ली जाती हैं। उत्साही कार्यकर्ता फोटोके समय बरबस ही मंत्रीजीके अगल-बगलमें बैठ जाते हैं। कुछ फोटो अखबारमें छपते हैं। मंत्रीजीके साथ बैठे कार्यकर्ताओंके नाम भी अखबारमें छपे हैं। महेशप्रसाद न फोटोमें आया है न उसका नाम छपा है।

अब महेशप्रसाद सोचता है "मैं अन्य सदस्योंसे अधिक विद्यालयका काम करता हूँ—तन मन लगाकर सेवा करता हूँ। फोटोमें मंत्रीजी के दाहिने या बाँये मुझे जगह मिलनी चाहिये थी। यदि मैं संकोचवश नहीं बैठा तो मेरे सहयोगियोंको आग्रहपूर्वक मुझे मंत्रीजीके बगलमें बैठाना चाहिये था। फोटो याददास्तकी चीज है। जब विद्यालयमें फोटो टंगेगी तो मेरी तो सकल भी नहीं दिखाई देगी। मैं विद्यालयसे कोई वेतन नहीं लेता पर मुझे सम्मान तो मिलना ही चाहिये। वह आगे सोचता है "संकोच छोड़कर मैं स्वयं ही क्यों न मंत्रीजीके बगलमें बैठ गया"।

सेवासे प्रशंसा प्राप्त करनेका हेतु महेशप्रसादको सेवाकी दक्षतासे गिरा देता है। अब सेवामें उसका उतना मन नहीं लगता। मेरी फोटो क्यों नहीं आई ? मेरे मित्र सोचेंगे विद्यालयमें महेशकी कोई पूछ नहीं। काम तो मैं करूँ और फोटोके समय दूसरे आगे आ जाँय। ये फल पर अधिकार मानने वाले विचार महेशप्रसादके चित्तको अस्थिर कर उसे सेवाकी तन्मयतासे च्युत कर देते हैं। फोटोकी-प्रशंसाकी-लालसा न होती तो वार्षिकोत्सवकी घटना उसे प्रभावित न करती और वह समभावसे सेवा करता रहता।

महेशप्रसाद केवल सेवा करे और गीता न पढ़े तो वह फलत्यागके महत्वको नहीं समझ सकता। और महेशप्रसाद केवल गीता पढ़े पर

सेवा न करे तो वह फलत्यागकी केवल कल्पना ही कर सकता है। संतोंने कहा है कि गीता आचरण शास्त्र है। श्रद्धापूर्वक गीता पढ़कर उसके अनुसार आचरण करनेका प्रयत्न करो और पुनः गीता पढ़ो। इस प्रकार वाचन और आचरणसे गीता समझमें आने लगेगी।

विनोबा कहते हैं "फलत्यागको योग अथवा जीवनकी कला कहना चाहिये।"

जीवन तो सभी जीते हैं। कलापूर्वक जीनेके लिए गीताका सहारा लेना चाहिये।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

तू योगमें स्थित होकर, आसक्तिको त्याग कर, सफलता और असफलतामें मनको समान रखते हुए अपना काम करता जा। समताका ही नाम योग है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

समत्वबुद्धिकी तुलनामें सकाम कर्म बहुत तुच्छ है। तू समत्वबुद्धिका आश्रय ले। जो लोग (अपने कर्मके) फलकी इच्छा करते हैं वे कृपण हैं, दयनीय हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धियुक्त अर्थात समत्वबुद्धि रखने वाला पुरुष यहाँ पाप और पुण्य दोनोंसे अलिप्त रहता है। इसलिए तू समत्वके लिए प्रयत्न कर। सब कर्मोंको कुशलतासे करना ही योग है।

योगः कर्मसु कौशलम्—श्रीभगवानके इस वचनका विद्वानोंने विविध प्रकारसे सुन्दर अर्थ किया है।

सब कर्मोंको कुशलतासे करनेका नाम योग है— राधाकृष्णन

कर्म करनेकी चतुराई-कुशलताको ही कर्मयोग कहते हैं— तिलक

पापपुण्यसे अलिप्त रहकर कर्म करनेकी चतुराई, कुशलता या युक्तिको कर्मयोग कहते हैं— श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

एक पत्रमें बापूजी लिखते हैं 'योगः कर्मसु कौशलम्' गीताका यह विचार अत्यन्त प्रौढ़ है। योग अर्थात् जुड़ना। ईश्वरके साथ जुड़नेका नाम योग है। वह कर्म-कौशलसे सहज ही साधा जा सकता है, ऐसा गीता-माताने सिखाया है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

क्योंकि समत्वबुद्धि वाले लोग कर्मसे उत्पन्न होने वाले फलका त्याग करके जन्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और निष्कलंक गति—मोक्ष पद पाते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़से पार उतर जायगी तब तुझे सुने हुए के विषयमें और सुननेको जो बाकी होगा उसके विषयमें उदासीनता प्राप्त होगी।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अनेक प्रकारके सिद्धान्तोंको सुननेसे व्यग्र हुई तेरी बुद्धि जब समाधिमें स्थिर होगी तभी तू योगको प्राप्त करेगा।

अर्जुनने पूछा "हे केशव, हार-जीत, सुख-दुःख, लाभ-हानिको समान समझकर, फलकी इच्छा न रखते हुए कर्तव्य समझकर कर्ममें लगा रहने वाला मनुष्य इस संसारमें कैसे रहता है? उस स्थितप्रज्ञ-स्थिरचित्त पुरुषके लक्षण बताइये—उसकी दिनचर्या सुनाइये। क्या आचरण देखकर मैं उसकी पहचान करूँ? उसका चित्र मुझे दिखलाइये।"

५४ वें श्लोकमें अर्जुनने प्रश्न किया है और उसके बादके अठारह श्लोकोंमें श्रीभगवानने स्थिरचित्त कर्मयोगीका चरित्रचित्रण किया है।

पूज्य गाँधीजीकी सायंकालकी प्रार्थनामें इन १९ श्लोकोंका पाठ होता था।

यदि तुम दूसरा अध्याय पूरा कंठस्थ न कर सको तो ये १९ श्लोक और इनका हिन्दी पद्यानुवाद तुम्हें अवश्य कंठस्थ कर लेना चाहिये।

अब ये श्लोक और उनका हिन्दी पद्यानुवाद तुम्हें सुनाता हूँ।

अर्जुनने कहा—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।।५४।।

स्थितप्रज्ञ समाधिस्थ कहते कृष्ण हैं किसे ।
स्थितधी बोलता कैसे, बैठता और डोलता ।।

स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थके क्या लक्षण होते हैं ? स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता, बैठता और चलता है ?

गीताके श्लोकोंके जो अर्थ मैं तुम्हें बता रहा हूँ उसमें दो बातें तुम्हें स्पष्ट कर दूँ। श्रीभगवानने तथा अर्जुनने अधिकतर श्लोकोंमें एक दूसरेको अनेक नामोंसे सम्बोधित किया है, जैसे ऊपरके श्लोकमें अर्जुनने श्रीभगवान को केशव कह कर सम्बोधन किया है और नीचेके श्लोकमें श्री भगवानने अर्जुनको पार्थ कह कर सम्बोधित किया है । मैं सम्बोधन वाले शब्दोंको अर्थमें नहीं लाता हूँ। दूसरे जहाँ-जहाँ मनुष्यके लिए पुरुष शब्दका प्रयोग है वहाँ पुरुष-स्त्री दोनोंके लिए है। जैसे—अर्जुनने पूछा—स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता, बैठता और चलता है तो वहाँ ऐसे भी कह सकते हैं—स्थितप्रज्ञ स्त्री कैसे बोलती, बैठती और चलती है ? स्त्री स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकती ऐसी बात गीताको बिल्कुल मान्य नहीं है । गीता स्त्री-पुरुषके समान कर्तव्य व समान अधिकार मानती है ।

श्रीभगवानने कहा—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।५५।।

मनोगत सभी काम तज दे जब पार्थ जो ।
आपमें आप हो तुष्ट, सो स्थितप्रज्ञ है तभी ।।

जब मनुष्य मनमें उठती हुई समस्त कामनाओंको त्याग देता है और आत्माद्वारा ही आत्मामें संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है ।

गाँधीजीकी टिप्पणी—"आत्मासे ही आत्मामें संतुष्ट रहना अर्थात् आत्माका आनन्द अन्दरसे खोजना, सुख-दुःख देने वाली बाहरी चीजों पर आनन्दका आधार न रखना । आनन्द सुखसे भिन्न वस्तु है यह ध्यानमें रखना चाहिये । मुझे धन मिलने पर मैं उसमें सुख मानूं यह मोह है । मैं भिखारी होऊँ, भूखका दुःख होने पर भी चोरी या दूसरे प्रलोभनोंमें न पड़नेमें जो बात मौजूद है वह आनन्द देती है और वही आत्मसन्तोष है ।"

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःख में जो अनुद्विग्न, सुख में नित्य निःस्पृह।
वीतराग-भय-क्रोध, मुनि है स्थित-धी वही ॥

दुःखसे जो दुखी न हो, सुखकी इच्छा न रखे और जो राग, भय और क्रोधसे रहित हो वह स्थिरबुद्धि मुनि कहलाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो शुभाशुभ को पाके न तो तुष्ट न रुष्ट है।
सर्वत्र अनभिस्नेही, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा ॥

सर्वत्र रागरहित होकर जो पुरुष शुभ या अशुभकी प्राप्तिमें न हर्षित होता है, न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

कूर्म ज्यों निज अंगो को, इन्द्रियों को समेट ले।
सर्वशः विषयों से जो, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा ॥

कछुआ जैसे सब ओरसे अपने अंगोंको समेट लेता है वैसे जब यह पुरुष इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है।

कछुआ तुमने देखा ही है। जब तुम मेरे साथ मथुरा गए थे—जमुनाजी की रेती पर कछुआ देखा था। अपना पैर, गर्दन, आँख, नाक, और कान समेटे कछुआ पड़ा था। केवल उसकी खाल दिखाई पड़ती थी। कुछ प्रयोजन नहीं होता तब कछुआ खतरेकी जगह अपने सब अवयव सिकोड़ कर पड़ा रहता है। तुमने उसे खानेको दिया। उसने अपने अंगोंको बाहर निकाला, तो तुम्हारा मनोरंजन हुआ था।

श्रीभगवानने स्थितप्रज्ञकी उपमा कछुएसे दी है। बड़ी सुन्दर उपमा है।

विनोबा गीता-प्रवचन में कहते हैं—

"इन्द्रिय-संयम आसान नहीं है। इन्द्रियोंसे बिल्कुल काम ही न लेना एक बार आसान हो सकता है। मौन, निराहार आदि बातें इतनी कठिन नहीं हैं। इससे उल्टा, इन्द्रियोंको खुला छोड़ देना तो सबके लिए सधा-सधाया ही रहता है। परन्तु जिस प्रकार कछुआ खतरेकी जगह अपने सभी अवयवोंको भीतर छिपा लेता है और निर्भय स्थान पर उनसे काम लेता है, उसी तरह विषय-भोगोंसे इन्द्रियोंको समेट लेना और परमार्थके काममें उनका उचित उपयोग करना, यह संयम कठिन है। इसके लिये महान प्रयत्नकी जरूरत है।"

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

भोग तो छूट जाते हैं निराहारी मनुष्य के।
रस किन्तु नहीं जाता, जाता है आत्मलाभ से ॥

देहधारी निराहारी रहता है तब उसके विषय मंद पड़ जाते हैं। परन्तु रस नहीं जाता। वह रस तो ईश्वरका साक्षात्कार होनेसे निवृत्त होता है।

गाँधीजीकी टिप्पणी—"यह श्लोक उपवास आदिका निषेध नहीं करता, वरन उसकी सीमा सूचित करता है। विषयोंको शांत करनेके लिए उपवासादि आवश्यक हैं, परन्तु उनकी जड़ अर्थात उनमें रहनेवाला रस तो ईश्वरकी झाँकी होने पर ही निवृत्त होता है। ईश्वर साक्षात्कारका जिसे रस लग जाता है वह दूसरे रसोंको भूल ही जाता है।"

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

यत्नयुक्त सुधी की भी इन्द्रियाँ ये प्रमत्त जो।
मन को हर लेती हैं अपने बल से हठात् ॥

चतुर पुरुषके यत्न करते रहने पर भी इन्द्रियाँ ऐसी प्रमथनशील हैं कि उसके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इन्हें संयम से रोके, मुझीमें रत, युक्त हो।
इन्द्रियाँ जिसने जीतीं, प्रज्ञा है उसकी स्थिरा ॥

इन सब इन्द्रियोंको वशमें रखकर योगीको मुझमें तन्मय हो रहना चाहिये। इन्द्रियाँ जिसके वशमें हैं उसकी बुद्धि स्थिर रहती है।

गाँधीजीकी टिप्पणी—"तात्पर्य, भक्तिके बिना-ईश्वरकी सहायताके बिना-मनुष्यका प्रयत्न मिथ्या है।"

विनोबाजी कहते हैं—"इन्द्रियोंको समेट लेना और परमार्थके काममें उनका उचित उपयोग करना यह संयम कठिन है। इसके लिए महान् प्रयत्नकी जरूरत हैं। ज्ञान भी चाहिये। परन्तु इतना होने पर भी ऐसा नहीं है कि वह हमेशा अच्छी तरह सध ही जायगा। तब क्या हम निराश हो जाँय? नहीं, साधकको कभी निराश न होना चाहिये। वह साधनाकी अपनी सब युक्तियाँ काममें लाए और फिर भी कमी रह जाय, तो उसमें भक्ति जोड़ दे। यह बड़ा कीमती सुझाव भगवानने स्थितप्रज्ञके लक्षणमें दिया है।"

ईश्वरकी सहायताके बिना, कृपाके बिना मनुष्यका प्रयत्न अधूरा है। इसी बातको श्रीमद्भागवतकी गजेन्द्र-मोक्षकी कथा पुष्ट करती है।

एक सुन्दर उद्यान पुष्प-पल्लवोंसे सुशोभित था तथा उसके मध्य एक विशाल सरोवर भी था। वहीं बहुतसी हथिनियोंके साथ एक गजराज रहता था। वह बड़े शक्तिशाली हाथियोंका सरदार था। एक दिन गजराज कड़ी धूपसे व्याकुल होकर उसी सरोवरके किनारे गया। उसमें प्रवेश कर पहले तो उसने प्यास बुझाई और निर्मल जलमें स्नान कर थकान मिटाई। फिर गृहस्थ पुरुषोंकी भाँति वह प्रसन्नतासे सूँड़से जलके फुहारे छोड़-छोड़ कर साथकी हथिनियोंको नहलाने लगा। इस प्रकार जब वह क्रीडारत था एक बलवान ग्राहने उसका पैर पकड़ लिया। अकस्मात् विपत्तिमें पड़नेके कारण उसने शक्तिभर अपनेको छुड़ानेका प्रयत्न किया, परन्तु छुड़ा न सका। उसके साथके हाथी, हथिनियोंने सहायता पहुँचाकर गजराजको जलसे बाहर निकालना चाहा पर वे भी असमर्थ ही रहे। गजेन्द्र और ग्राह अपनी-अपनी पूरी शक्ति लगाकर भिड़े हुए थे। कभी गजेन्द्र ग्राहको बाहर खींच लाता, तो कभी ग्राह गजेन्द्रको पानीमें खींच ले जाता। बहुत दिनों तक बार-बार जलमें खींचे जानेसे गजेन्द्रका शरीर शिथिल पड़ गया। शक्ति क्षीण हो गयी। ग्राह तो जलचर ही ठहरा। उसकी शक्ति बढ़ गयी। वह बड़े उत्साहसे जोर लगाकर गजेन्द्रको पानीमें खींचने लगा। गजेन्द्र जब अपनेको छुड़ानेमें सब तरहसे असमर्थ हो गया तब उसने भगवानकी शरण ली और उनकी स्तुति की—

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम् ।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ।।

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ।।

गजेन्द्रने भक्तिपूर्वक स्तुति की—"सबके हृदयमें स्थित जगतके एकमात्र स्वामी एवं सृष्टिके मूल कारण भगवान श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ। यह संसार उन्हींमें स्थित है, उन्हींकी सत्ता है, वे ही इसमें व्याप्त हैं और इससे परे भी हैं। उन स्वयंप्रकाश, स्वयंसिद्ध भगवानकी मैं शरण जाता हूँ।"

गजेन्द्रकी इस हार्दिक प्रार्थना पर भगवान स्वयं आए। गजेन्द्रको अत्यन्त पीडित्त देख श्रीभगवान गरुड़से कूद पड़े और गजेन्द्रके साथ ग्राहको भी सरोवरसे बाहर खींचकर उन्होंने सुदर्शन चक्रसे ग्राहका मुख फाड़ डाला और गजेन्द्रको छुड़ा लिया।

गजेन्द्रकी कथा बताती है कि मनुष्य पुरुषार्थ करे और विकारोंसे सतत संघर्ष करे। साथ ही ईश्वरकी कृपाकी प्रार्थना करता रहे। ईश्वर कृपा बिना सारा पुरुषार्थ व्यर्थ हो सकता है।

गजेन्द्रमोक्षकी कथा भक्तोंको बड़ी प्रिय है।

मीराने गाया है—

हरी तुम हरो जनकी भीर।
द्रौपदीकी लाज राखी तुरत बढ़ायो चीर।।
भगत कारण रूप नरहरि धरयो आप शरीर।
हिरण्याकुश मारि लीन्हों धरयो नाहिन धीर।।
बूड़तो गजराज राख्यो कियौ बाहर नीर।
दासी मीरा लाल गिरधर चरणकंवल पर सीर।।

भक्त सूरदासजी कहते हैं—
सुने री मैंने निर्बल के बल राम।
पिछली साख भरूँ संतन की, अड़े सँवारे काम।।
जब लगि गजबल अपनो बरत्यो, नेक सरयों नहिं काम।
निरबल ह्वै बल राम पुकारयो, आए आधे नाम।।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।६२।।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

भोग चिन्तन होने से होता उत्पन्न संग है ।
संग से काम होता है, काम से क्रोध भारत ॥

क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृतिविभ्रम ।
उससे वुद्धिका नाश, बुद्धिनाश विनाश है ॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनासे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे मूढ़ता उत्पन्न होती है। मूढ़तासे स्मृति नष्ट हो जाती है, स्मृतिके नष्ट होनेसे बुद्धिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे मनुष्यका पतन हो जाता है ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

रागद्वेष-परित्यागी करे इन्द्रिय-कार्य जो ।
स्वाधीन वृत्ति से पार्थ, पाता आत्मप्रसाद सो ॥

जिसका मन अपने अधिकारमें है और जिसकी इन्द्रियाँ रागद्वेषरहित होकर उसके वशमें रहती हैं, वह मनुष्य इन्द्रियोंका व्यापार चलाते हुए भी चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त करता है ।

गीता-प्रवचनमें श्री विनोबाने स्थितप्रज्ञ पुरुषकी इन्द्रियोंसे काम लेनेके ढंगकी बड़ी सुन्दर उपमा दी है । वे कहते हैं—"स्थितप्रज्ञ सारी इन्द्रियोंको लगाम चढ़ाकर उन्हें कर्मयोगमें जोतता है । इन्द्रिय-रूपी बैलोंसे वह निष्काम स्वधर्माचरणकी खेती भली-भाँति करा लेता है । अपना प्रत्येक श्वासोच्छ्वास वह परमार्थमें खर्च करता रहता है ।"

स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों पर नियंत्रण रखता है, उन्हें जहाँ-तहाँ भटकने नहीं देता । सदैव लगाम पकड़े रहता है—जहाँ ढ़ील देना आवश्यक है वहीं ढ़ीली करता है । जैसे वैलोंसे खेतीका काम लेनेके बाद उन्हें बाँध रखा जाता है, बैल स्वछन्द घूमते नहीं, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ अपनी इंद्रियोंसे निष्कामकर्म कराता है, उन्हें भोगोंकी तरफ जाने ही नहीं देता । अपना जीवन वह परहित में लगाये रखता है ।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

प्रसाद-युत होने से छूटते सब दुःख हैं।
होती प्रसन्नचेता की बुद्धि सुस्थिर शीघ्र ही ॥

चित्तकी प्रसन्नतासे उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं और प्रसन्न चित्त कर्मयोगीकीबुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

नहीं बुद्धि अयोगी के, भावना उसमें कहाँ।
अभावन कहाँ शान्त, कैसे सुख अशान्त को ॥

असंयमी पुरुषकी बुद्धि स्थिर नहीं होती। स्थिर बुद्धिके बिना भावना नहीं, भावनाके बिना शान्ति नहीं और जहाँ शान्ति नहीं वहाँ सुख नहीं।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

मन जो दौड़ता पीछे इन्द्रियों के विहार में।
खींचता जन की प्रज्ञा, जल में नाव वायु ज्यों ॥

जब मन विषयोंमें भटकती इन्द्रियोंके पीछे भागता है तव वह बुद्धिको उसी प्रकार जहाँ-तहाँ खींच ले जाता है जैसे वायु नावको जलमें जहाँ चाहे खींच ले जाता है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

अतएव महाबाहो, इन्द्रियों को समेट ले।
सर्वथा विषयों से जो प्रज्ञा है उसकी स्थिरा ॥

जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

निशा जो सर्व भूतों की, संयमी जागते वहाँ।
जागते जिसमें अन्य, वह तत्वज्ञ की निशा ॥

जब सब प्राणी सोते रहते हैं तब संयमी जागता रहता है। जब सब लोग जागते रहते हैं तब ज्ञानवान मुनि सोता रहता है।

गाँधीजीकी टिप्पणी—"भोगी मनुष्य रातके बारह-एक बजे तक नाच, रंग, खानपान आदिमें अपना समय बिताते हैं और फिर सवेरे सात-आठ बजे तक सोते हैं। संयमी रातके सात-आठ बजे सोकर मध्यरात्रिमें उठकर ईश्वरका ध्यान करते हैं। इसके सिवा भोगी संसारका प्रपंच बढ़ाता है और ईश्वरको भूलता है, उधर संयमी सांसारिक प्रपंचोंसे बेखबर रहता है और ईश्वरका साक्षात्कार करता है। इस प्रकार दोनोंका पंथ न्यारा है। यह इस श्लोकमें भगवानने बतलाया है।"

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

नदी-नदोंसे भरता हुआ भी
समुद्र है ज्यों स्थिर सुप्रतिष्ठ।
त्यों काम सारे जिसमें समावें
पाता वही शान्ति, न काम-कामी ॥

नदियोंके प्रवेशसे भरते रहने पर भी जैसे समुद्र मर्यादा नहीं खोता है उसी प्रकार जिस पुरुषमें संसारके विविध भोग बिना विकार उत्पन्न किये ही समा जाते हैं वही शान्ति पाता है न कि कामना वाला मनुष्य।

"स्थितप्रज्ञ-दर्शन" में श्रीविनोबा कहते हैं "समुद्रमें जिस प्रकार चारों ओरसे पानी एक-सा आता रहता है उसी तरह विश्वके अनंत विषय स्थितप्रज्ञके समीप आते ही रहते हैं। आँखके सामने आंखके विषय, कानके सामने कानके विषय खड़े रहते हैं, परन्तु समुद्र जिस तरह तमाम पानीको अपने स्वरूपमें ग्रहण करके आत्मसात् कर लेता है, उसी तरह स्थितप्रज्ञ सारे विषय-भोगोंको अपने स्वरूपमें मिला लेता है। आँखोंको जो रूप दिखाई देगा, कानोंमें जो शब्द पड़ जायगा और इसी तरह दूसरी इन्द्रियोंको उनके जो-जो विषय प्राप्त होंगे उन सबको वह आत्म-स्वरूपमें लवलीन कर डालता है, मन पर उनका कुछ असर नहीं होने देता। अनुकूल व

प्रतिकूल वेदनाके रूपमें वाह्य विषयोंका असर मन पर होता रहता है। इसे मनका धर्म कहिये, विषयका कहिये या मन व विषय दोनोंका मिलाकर कहिये, मुख्य वात यह है कि इन विषयोंको मिटाना संभव नहीं है। यदि हम यह तय करें कि हमारे संयमके लिए तमाम वाह्य विषय मिटा दिये जाँय तो सारे संसारका ही लय कर देना होगा, सो संभवनीय नहीं। इसकी जरुरत भी नहीं। वाहरके विषय इन्द्रियोंके द्वारा प्रवेश करते रहते हैं तो भी स्थितप्रज्ञके चित्त पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी स्थिति अडोल रहती है। इस तरह यहाँ स्थितप्रज्ञ पुरुषका वैभव वताया गया है।"

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

सर्व-काम परित्यागी विचरे नर निःस्पृह।
अहंता - ममता मुक्त, पाता परम शान्ति सो॥

सब कामनाओंका त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकार रहित होकर विचरता है, वही शान्ति पाता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

ब्राह्मीस्थिति यही पार्थ, इसे पाके न मोह है।
टिकती अन्त में भी है ब्रह्मनिर्वाण-दायिनी॥

यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है। इसे प्राप्त करके फिर वह मोहमें नहीं पड़ता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित रहकर वह ब्रह्म-निर्वाण—मोक्ष पाता है।

ऊपरके १९ श्लोकोंका पूज्य बापूजीने सरल अर्थ किया है उसे सुनो—

अर्जुन पूछता है—"यह तो मेरे बूतेके वाहर जान पड़ता है। हार-जीतका विचार छोड़ना, परिणामका विचार ही न करना, ऐसी समता, ऐसी स्थिरबुद्धि कैसे आ सकती है? मुझे समझाइये कि ऐसी स्थिरबुद्धि वाले कैसे होते हैं, उन्हें कैसे पहचाना जा सकता है?"

तब भगवानने जवाब दिया।

हे अर्जुन! जिस मनुष्यने अपनी कामना-मात्रका त्याग किया है और जो अपने अन्तरमें ही संतोष प्राप्त करता है, वह स्थिरचित्त, स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि या

समाधिस्थ कहलाता है। ऐसा मनुष्य न दुःख से दुःखी होता है, न सुखसे फूल उठता है। सुख दुःखादि पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं। इसलिए ऐसा बुद्धिमान मनुष्य कछुयेकी भाँति अपनी इन्द्रियोंको समेट लेता है, पर कछुआ तो जब किसी दुश्मनको देखता है तब अपने अंगोंको ढ़ालके नीचे समेटता है। लेकिन मनुष्यकी इन्द्रियों पर तो विषय नित्य चढ़ाई करनेको खड़े ही हैं, अतः उसे तो हमेशा इंद्रियोंको समेटे रखना और स्वयं ढ़ालरूप होकर विषयोंके मुकाबलेमें लड़ना है। यह असली युद्ध है। कोई तो विषयोंसे बचनेको देहदमन करता है, उपवास करता है। यह ठीक है कि उपवास-कालमें इंद्रियाँ विषयोंकी ओर नहीं दौड़तीं, पर अकेले उपवाससे रस नहीं सूख जाता। उपवास छोड़ने पर तो और भी बढ़ जाता है। रसको दूर करनेके लिए ईश्वरका प्रसाद चाहिये। इंद्रियाँ तो ऐसी बलवान हैं कि वे मनुष्यको उसके सावधान न रहने पर जबरदस्ती घसीट ले जाती हैं। इसलिए मनुष्यको इंद्रियोंको हमेशा अपने वशमें रखना चाहिये। पर यह तब हो सकता है जब वह ईश्वरका ध्यान धरे, अन्तर्मुख हो, हृदयमें रहने वाले अन्तर्यामीको पहचाने और उसकी भक्ति करे। इस प्रकार जो मनुष्य मुझमें परायण रहकर अपनी इंद्रियोंको वशमें रखता है, वह स्थिरबुद्धि योगी कहलाता है। इससे विपरीत करने वालेके हाल भी मुझसे सुन। जिसकी इन्द्रियाँ स्वच्छन्द रूपसे बरतती हैं वह नित्य विषयोंका ध्यान धरता है। तब उसमें उसका मन फँस जाता है। इसके सिवा उसे और कुछ सूझता ही नहीं। ऐसी आसक्तिमेंसे काम पैदा होता है। बादको उसकी पूर्ति न होने पर उसे क्रोध आता है। क्रोधातुर तो बावला-सा हो जाता है, आपेमें नहीं रह जाता। अतः स्मृतिभ्रंशके कारण जो सो बकता और करता है। ऐसे व्यक्तिका अन्तमें नाशके सिवा और क्या होगा? जिसकी इन्द्रियाँ यों भटकती फिरती हैं उसकी हालत पतवार रहित नाव की-सी हो जाती है। चाहे जो हवा नावको इधर-उधर घसीट ले जाती है और अन्तमें किसी चट्टानसे टकरा कर नाव चूर हो जाती है। जिसकी इन्द्रियाँ भटका करती हैं उसके ये हाल होते हैं। अतः मनुष्यको कामनाओंको छोड़ना और इन्द्रियों पर काबू रखना चाहिये। इससे इन्द्रियाँ न करने योग्य कार्य नहीं करेंगी, आँखे सीधी रहेंगी, पवित्र वस्तुको ही देखेंगी, कान भगवद्-भजन सुनेंगे, या दुःखीकी आवाज सुनेंगे। हाथ पाँव सेवा-कार्यमें रुके रहेंगे और ये सब इन्द्रियाँ मनुष्यके कर्तव्य-कार्यमें ही लगी रहेंगी और उसमेंसे उन्हें ईश्वरकी प्रसादी मिलेगी। वह प्रसादी मिली कि सारे दुःख गए समझो। सूर्यके तेजसे जैसे बर्फ पिघल जाती है, वैसे ईश्वर-प्रसादीके तेजसे दुःखमात्र भाग जाते हैं और ऐसे मनुष्यको स्थिरबुद्धि कहते हैं। पर जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसे अच्छी भावना कहाँ से आवेगी? जिसे अच्छी भावना नहीं, उसे शान्ति कहाँ? जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख कहाँ?

स्थिरबुद्धि मनुष्यको जहाँ दीपकको भाँति साफ दिखाई देता है, वहाँ अस्थिर मनवाले दुनियाँकी गड़बड़में पड़े रहते हैं और देख ही नहीं सकते, और ऐसी गड़बड़वालोंको जो स्पष्ट लगता है वह समाधिस्थ योगीको स्पष्ट रूपसे मलिन लगता है और वह उधर नजर तक नहीं डालता। ऐसे योगीकी तो ऐसी स्थिति होती है कि नदी-नालोंका पानी जैसे समुद्रमें समा जाता है, वैसे विषयमात्र इस समुद्ररूप योगीमें समा जाते हैं। और ऐसा मनुष्य समुद्रकी भाँति हमेशा शान्त रहता है। इससे जो मनुष्य सब कामनाएँ तजकर, निरहंकार होकर, ममता छोड़कर, तटस्थरूपसे बरतता है, वह शान्ति पाता है। यह ईश्वर प्राप्तिकी स्थिति है और ऐसी स्थिति जिसकी मृत्यु तक टिकती है, वह मोक्ष पाता है।"

दूसरे अध्यायकी शिक्षाको दोहरा लें।

१. आत्मा अमर है, नित्य है, शाश्वत है।

२. देहका नाश होता है, देहधारी का नहीं। देहनाश अनिवार्य है, उसका शोक नहीं करना चाहिये।

३. मनुष्यको कर्मका अधिकार है—परिणाम पर उसका अधिकार नहीं है। हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुःखमें समता रख कर सदा अपने कर्तव्यमें तन्मय रहना चाहिये। सहज प्राप्त स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये।

४. मनमें उठने वाली सम्पूर्ण कामनाओंको त्याग कर, सुख-दुःख हानि-लाभमें समता रखकर राग-द्वेष रहित रहकर स्वकर्ममें तत्पर रहने वाले स्थितप्रज्ञका चित्रण और उस स्थितिको प्राप्त कराने वाले साधनों—इंद्रिय-संयम, अनासक्ति, स्वधर्माचरण एवं ईश्वर शरणता का निर्देश।

■

तीसरा अध्याय

पूज्य बापूजी लिखते हैं—

"यह अध्याय गीताका स्वरूप जाननेकी कुंजी कहा जा सकता है। इसमें कर्म कैसे करना, कौन कर्म करना और सच्चा कर्म किसे कहना चाहिये, यह साफ किया गया है और बतलाया है कि सच्चा ज्ञान पारमार्थिक कर्मोंमें परिणत होना ही चाहिये।"

अर्जुनको शंका हुई कि श्रीभगवान कर्मकी अपेक्षा बुद्धिको श्रेष्ठ मानते हैं। इसलिए उसने पूछा—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

हे केशव, यदि कर्मकी अपेक्षा बुद्धिको आप श्रेष्ठ मानते हैं तो आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

आप मिले-जुले वचनोंसे मेरी बुद्धिको शंका-ग्रस्त सी कर रहे हैं। आप मुझसे एक ही बात निश्चयपूर्वक कहिये कि जिससे मेरा कल्याण हो।

श्रीभगवानने कहा—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे।

एकमें ज्ञानकी प्रधानता है दूसरेमें कर्मकी।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

कर्मका आरम्भ न करनेसे मनुष्य निष्कर्मताका अनुभव नहीं करता है और न कर्मके केवल बाहरी त्यागसे सिद्धि पाता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी कर्म किए बिना नहीं रहता। प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणके कारण प्रत्येक मनुष्यको विवश होकर कर्म करना ही पड़ता है।

जब तक शरीर है हम कर्मसे बच नहीं सकते। कर्मके बिना जीवन टिक ही नहीं सकता।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो मनुष्य कर्म करनेवाली इन्द्रियोंको तो रोकता है परन्तु उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन मनसे करता रहता है वह मिथ्याचारी, पाखंडी कहलाता है।

गाँधीजीकी टिप्पणी—"जैसे, जो वाणीको तो रोकता है, पर मनमें किसीको गाली देता है, वह निष्कर्म नहीं है, बल्कि मिथ्याचारी है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जब तक मन न रोका जा सके तब तक शरीरको रोकना निरर्थक है। शरीरको रोके बिना मन पर अंकुश आता ही नहीं। परन्तु शरीरके अंकुशके साथ-साथ मन पर अंकुश रखनेका प्रयत्न होना ही चाहिये। जो लोग भय या ऐसे बाहरी कारणोंसे शरीरको रोकते हैं, परन्तु मनको नहीं रोकते, इतना ही नहीं, बल्कि मनसे तो विषय भोगते हैं और मौका पाने पर शरीरसे भी भोगनेमें नहीं चूकते, ऐसे मिथ्याचारीकी यहाँ निन्दा है।"

रामदास एक गृहस्थ था। कुसंगतिमें पड़ कर उसे जूआ खेलनेकी आदत पड़ गयी। पहले दो चार रुपयेसे खेलता था और दीपावली तथा होली पर खेलता था, पर धीरे-धीरे हर रविवारको जूआ खेलने लगा। रविवारको दुकान बन्द रहती थी। घरसे खाना खाकर १०-११ बजे अपने साथीके घर चला जाता। वहाँ कई जुआरी इकट्ठे होते और दिन ११ बजे जूआ आरम्भ होता तो १० बजे रात तक चलता। रविवारके दिन जूआ खेलना आदत हो गई। घरमें माँ बीमार हो, बच्चोंकी परीक्षाके दिनोंमें पढ़ाना जरूरी हो, कोई मेहमान आया हो, पर उसे रविवारको जूआ खेलने जानेसे कोई रोक नहीं पाता था। उसके एक मित्रने उसे जूएके दोष बताए। महाभारतमें जूआ खेलनेके जो भयंकर परिणाम बताए गए हैं उन्हें सुनाया। बार-बार आग्रह किया, बहुभाँति समझाया तो उसने जूआ न खेलनेका वचन दिया। तीन चार हफ्ते बाद मित्र रामदासके घर गया तो पता लगा कि दो रविवार तो वह जूएके अड्डे पर नहीं गया

था पर पिछले रविवारसे पुनः जा रहा है। मित्र अड्डे पर गया तो उसने देखा कि रामदास खेल तो नहीं रहा है, पर खेलनेवालोंके साथ बैठा है और हार-जीतको गौर से देख रहा है। मित्रने उसे उलहना दिया तो रामदास बोला—"मैं खेल तो नहीं रहा हूँ, जबसे मैंने तुम्हें वचन दिया है एक पैसेकी भी बाजी नहीं लगाई है। मन बहलानेके लिये यहाँ चला आता हूँ।"

यही मिथ्याचार है। जूआ खेलना छोड़नेके बाद उसे मनको भी उधरसे हटाना चाहिये। यदि मनको नहीं हटावेगा तो पुनः उसी पापमें पड़नेकी पूरी सम्भावना है। रामदासको चाहिये कि रविवारको वह क्रिकेटके खेलमें जाय; या बच्चोंको पढ़ावे, या पत्नीके साथ नदी किनारे सैरको निकल जाय या बीमार माँको रामचरितमानस सुनावे। तब भी उसका मन जूएके अड्डे पर भागा जायगा। वह बार-बार उसे वहाँसे हटा कर दूसरे अच्छे कामोंमें लगाता रहे। मनको जूएके अड्डेमें जानेसे रोकनेमें रामदासको कई महीने या कई वर्ष भी लग सकते हैं। मन धीरे-धीरे हटता जायगा और फिर विरत हो जायगा। अगर उसका प्रयत्न सच्चा है और वह मनको दूसरे उपयोगी कार्यमें लगाये रखता है तो उसको अपने मनको जूएके अड्डे पर मड़रानेसे रोकनेमें कुछ वर्ष भी लग जाँय तब भी वह सदाचारी है, मिथ्याचारी नहीं।

मनको बुरे कामोंका चिन्तन करने देना एक बात है और मनका बरबस बुराईका चिन्तन करने लग जाना दूसरी बात है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है।

गाँधीजीकी टिप्पणी—"इसमें बाहर और भीतरका मेल साधा गया है। मनको अंकुशमें रखते हुए भी मनुष्य शरीर द्वारा अर्थात् कर्मेन्द्रियों द्वारा कुछ न कुछ तो करेगा ही, परन्तु जिसका मन अंकुशमें है उसके कान दूषित बातें नहीं सुनेंगे, वरन् ईश्वर भजन सुनेंगे, सत्पुरुषोंकी वाणी सुनेंगे। जिसका मन अपने वशमें है वह जिसे हमलोग विषय मानते हैं, उसमें रस नहीं लेता। ऐसा मनुष्य आत्माको शोभा देनेवाले ही कर्म करेगा। ऐसे कर्मोंका करना कर्म-मार्ग है। जिसके द्वारा आत्माका शरीरके बंधनसे छूटनेका योग सधे उसका नाम कर्मयोग है। इसमें विषयासक्तिको स्थान हो ही नहीं सकता।"

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

इसलिए तू, नियत कर्म कर। कर्म न करनेसे कर्म करना अधिक अच्छा है। तेरे शरीरका निर्वाह भी कर्म बिना नहीं चल सकता।

यहाँ श्रीभगवानका स्पष्ट निर्देश है कि कर्म न करनेसे कर्म करना अधिक अच्छा है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज्ञार्थ किये जाने वाले कर्मके अतिरिक्त कर्मसे इस लोकमें बन्धन पैदा होता है। इसलिए तू रागरहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर।

गांधीजीने यज्ञकी व्याख्या गीता-मातामें की है, वे लिखते हैं :—

"यज्ञ अर्थात परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ किये हुए कर्म। इस लोकमें या परलोकमें कुछ भी बदला लिए या चाहे बिना, परार्थके लिए किये हुए किसी भी कर्मको यज्ञ कहेंगे। यज्ञ नित्य कर्तव्य हैं, चौबीसों घन्टे आचरणमें लानेकी वस्तु है।"

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

यज्ञके सहित प्रजाको उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्माने कहा "यज्ञ द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें इच्छित फल दे।"

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

तुम यज्ञ द्वारा देवताओंका पोषण करो और देवता तुम्हारा पोषण करें और एक दूसरेका पोषण करके तुम परम कल्याणको पाओ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञ द्वारा संतुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बदला दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।

गाँधीजीकी टिप्पणी—यहाँ देवका अर्थ है भूतमात्र, ईश्वरकी सृष्टि। भूतमात्रकी सेवा देव-सेवा है और वह यज्ञ है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

जो यज्ञसे बचा हुआ खाने वाले हैं, वे सब पापोंसे छूट जाते हैं। जो अपने लिए ही पकाते हैं वे तो मानो, पाप ही खाते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं। वर्षासे अन्न उत्पन्न होता है। यज्ञसे वर्षा होती है और यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

तू जानले कि कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षर ब्रह्मसे उत्पन्न होती है और इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञमें विद्यमान है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

इस प्रकार प्रवर्तित चक्रका जो अनुसरण नहीं करता है, वह मनुष्य अपना जीवन पापी बनाता है, इन्द्रिय सुखोंमें फंसा रहता है और वह व्यर्थ जीता है।

श्लोक ९ से १६ का भावार्थ गाँधीजीने गीता-मातामें बताया है—

"यज्ञके मानी हैं, अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरेके लिए, परोपकारके लिए, किया हुआ श्रम अर्थात् संक्षेपमें सेवा, और जहाँ सेवाके निमित्त ही सेवाकी जायगी, वहाँ आसक्ति, राग-द्वेष नहीं होगा। ऐसा यज्ञ, ऐसी सेवा, तू करता रह। ब्रह्माने जगत उपजानेके साथ ही साथ यज्ञ भी उपजाया, मानों हमारे कानमें यह फूंका कि पृथ्वी पर जाओ, एक दूसरेकी सेवा करो और फलो फूलो। जीवमात्रको देवतारूप जानो, इन देवोंकी सेवा करके तुम उन्हें प्रसन्न रखो, वे तुम्हें प्रसन्न रखेंगे। प्रसन्न हुए देव तुम्हें विना मांगे मनोवांछित फल देंगे। इस लिए यह समझना चाहिये कि लोक-सेवा किये विना, उनका हिस्सा

उन्हें पहले दिए बिना, जो खाता है, वह चोर है। जो लोगोंका, जीवमात्रका भाग उन्हें पहुँचानेके बाद खाता है या कुछ भोगता है, उसे वह भोगनेका अधिकार है अर्थात् वह पापमुक्त हो जाता है।"

मैं समझता हूँ तुम्हें उपरोक्त आठ श्लोकोंकी भावना समझमें आ गयी होगी ? यज्ञ द्वारा—परोपकार द्वारा—तुमको ईश्वरकी उपासना करनी है। ईश्वरने संसारकी उन्नति तथा अपने मिलनेके साधनके रूपमें यज्ञको-सेवाको-प्रगट किया है।

तुम्हारा यह प्रश्न बहुत उपयुक्त है कि हवन और होम द्वारा जो यज्ञ किया जाता है उसका यज्ञकी इस परिभाषासे कैसे मेल बैठता है ?

दूसरोंके भलेके लिए किया हुआ निःस्वार्थ काम यज्ञ कहलाता है। प्राचीन समयमें हवन और होम परहितके लिए किये गये निःस्वार्थ कामके प्रतीक थे—इसलिए यज्ञ थे। अग्निहोत्र यज्ञका बाहरी आवरण है। मूल भावना तो उसके पीछे परमार्थकी है। अपनी प्रिय वस्तुएँ स्वयं न खाकर उन सब प्राणियोंके कल्याणके लिए अग्निमें होम कर देते थे जिनसे किसी प्रकारका प्रतिफल पानेकी आशा नहीं थी। अग्निमें आहुति डालते समय 'न मम'—यह वस्तु मेरी नहीं है—कह कर उस वस्तुसे अपनी ममत्व-बुद्धिका त्याग दिखलाया जाता था। यही यज्ञका मुख्य तत्व है। आज घी और अन्नकी इतनी कमी है कि मनुष्यके लिए ही पूरा नहीं पड़ता। तब घी और अन्नको अग्निमें डालना अब यज्ञ नहीं रहा। देश कालके अनुसार जो सेवा कार्य उपस्थित हो उन्हें निःस्वार्थ भावसे करना यज्ञ है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।१७।।

पर जो मनुष्य आत्मामें रमण करने वाला है, जो उसीसे तृप्त रहता है और उसीमें सन्तोष मानता है, उसे कुछ करनेको नहीं रहता।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।।१८।।

करने, न करनेमें उसका कुछ भी स्वार्थ नहीं है। सम्पूर्ण प्राणियोंमें उसे कोई निजी स्वार्थ नहीं है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

अतः निःसंग होके ही कर कर्तव्य-कर्म तू ।
अनासक्त हुए को ही प्राप्त होता परात्पर ॥

इसलिए तू अनासक्त रहकर निरन्तर कर्तव्य कर्म कर। आसक्तिसे रहित होकर कर्म करनेवाले पुरुषको परमात्माके दर्शन होते हैं।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

जनक तथा अन्य लोगोंने कर्मसे ही परमसिद्धि प्राप्त की। लोक-संग्रहके लिए—लोकहितके लिए भी तुझे कर्म करना उचित है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

जो-जो आचरण उत्तम पुरुष करते हैं, अन्य पुरुष भी उसके ही अनुसार बर्तते हैं। वे जो प्रमाण बनाते हैं उसका लोग अनुकरण करते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी करनेको नहीं है। पाने योग्य कोई वस्तु न पाई हो ऐसा नहीं है, तो भी मैं कर्ममें लगा रहता हूँ।

यदि ह्ययं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि मैं आलस्य छोड़कर निरन्तर कर्ममें न लगा रहूँ तो सब मनुष्य मेरे ही पथका अनुसरण करेंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोक भ्रष्ट हो जाँय, मैं अव्यवस्थाका कर्ता बनूं और प्रजाजनोंका मेरे द्वारा नाश हो जाय।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

जैसे अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे ज्ञानीको आसक्ति रहित होकर लोक कल्याणकी इच्छासे कर्म करना चाहिए ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

कर्ममें आसक्त अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिको ज्ञानी डांवाडोल न करे, परन्तु समत्वपूर्वक अच्छे प्रकारसे कर्म करके उन्हें कर्मोंमें लगावे ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

सब कर्म प्रकृतिके गुणों द्वारा किये हुए होते हैं। अहंकारसे मूढ़ बना हुआ मनुष्य "मैं कर्ता हूँ" यह मान लेता है ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

गुण और कर्मके विभागका रहस्य जानने वाला पुरुष "गुण गुणोंमें बर्त रहे हैं" यह मानकर उनमें आसक्त नहीं होता है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हुए मनुष्य गुण और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं। ज्ञानियोंको चाहिये कि वे इन अज्ञानी, मन्द बुद्धि लोगोंको विचलित न करें।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

अध्यात्म-वृत्ति रखकर, सब कर्म मुझे अर्पण करके, आसक्ति और ममत्वको छोड़, राग रहित होकर तू युद्ध कर ।

डा० राधाकृष्णनकी टिप्पणी—भगवानके प्रति, जो सारे ब्रह्माण्डके अस्तित्व और गतिविधिका अधीश्वर है, आत्मसमर्पण करके हमें कर्ममें जुट जाना चाहिये । 'तेरी इच्छा पूर्ण हो' सब कार्योंमें हमारी यह मनोवृत्ति होनी

चाहिये। हमें सब कार्य इस भावनासे करने चाहिए कि हम भगवानके सेवक हैं।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

श्रद्धा रखकर, दोषबुद्धिसे रहित, जो मनुष्य मेरे इस मतके अनुसार चलते हैं, वे भी कर्म बन्धनसे छूट जाते हैं।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

परन्तु जो मेरे इस अभिप्रायमें दोष निकालकर उसका अनुसरण नहीं करते वे सम्पूर्ण ज्ञानोंसे रहित मूढ हैं। उन्हें कल्याणसे भ्रष्ट हुए ही जान।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार आचरण करते हैं। सब प्राणी अपनी प्रकृतिके अनुसार काम करते हैं। निग्रह क्या कर सकेगा ?

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

अपने-अपने विषयोंके सम्बन्धमें इंद्रियोंको राग-द्वेष रहता ही है। मनुष्यको उनके वशमें नहीं हो जाना चाहिये। क्योंकि राग और द्वेष कल्याण मार्गके बाधक हैं।

गांधीजीकी टिप्पणी—कानका विषय है सुनना। जो भावे वह सुननेकी इच्छा राग है। जो न भावे वह सुननेकी अनिच्छा द्वेष है। 'यह तो स्वभाव है' कह कर रागद्वेषके वश ही नहीं होना चाहिये, उनका मुकाबला करना चाहिये। आत्माका स्वभाव सुख-दुःखसे अछूते रहना है। उस स्वभाव तक मनुष्यको पहुंचना है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

स्वधर्म श्रेष्ठ छोटा भी सम्पन्न परधर्म से।
परधर्म भयंकारी, भली मृत्यु स्वधर्म में॥

पराये धर्मके सुलभ होनेपर भी उससे अपना धर्म—अपना कर्म ही अधिक श्रेयस्कर है—चाहे अपना धर्म विगुण अर्थात सदोष भले ही हो। स्वधर्ममें मृत्यु भली है। परधर्म भयावह है।

गाँधीजीकी टिप्पणी—"समाजमें एकका धर्म झाड़ू देनेका होता है और दूसरे का धर्म हिसाब रखनेका होता है। हिसाब रखने वाला भले ही श्रेष्ठ गिना जाय परन्तु झाड़ू देने वाला अपना धर्म त्याग दे तो वह नष्ट हो जायेगा और समाजको हानि पहुंचेगी। ईश्वरके दरबारमें दोनोंकी सेवाका मूल्य उनकी निष्ठाके अनुसार कूता जायगा। पेशेकी कीमत वहाँ तो एक ही होती है। दोनों ईश्वरार्पण बुद्धिसे अपना कर्तव्य पालन करें तो समानरूपसे मोक्षके अधिकारी बनते हैं।"

श्रीभगवानने इस श्लोकमें जो निर्देष दिया है उसे ठीक समझना चाहिये।

एक युवक गोविन्दलालको समाज सेवाका महत्व बताने वाली अच्छी पुस्तकें मिल गयीं। एक भले समाजसेवी से उसका सम्पर्क हो गया। उनसे प्रभावित होकर उसने निश्चय किया कि बी०ए० पास करके वह अपने गाँव वापस चला जायगा और वहाँ ही कोई उपयोगी धंधा करेगा। माता-पिताकी सेवा करके बाकी समयमें आसपासके बच्चोंको पढ़ायेगा तथा रात्रिमें गाँवके भाई-बहनोंको रामचरितमानस सुनाया करेगा।

उसने किया भी ऐसा ही। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे बी० ए० पास करके वह निकटके अपने गाँव चला गया। कोल्हू बैठा लिया। कोल्हू बैल द्वारा चलता था। सरसों गाँवसे ही मिल जाती थी। शुद्ध तेल बनाता था जो गाँवमें बिकता था तथा वाराणसीके बाजारमें भी। गाँवके बच्चोंको पढ़ाता और माता-पिताकी सेवा करता। गाँवमें उसके वापस आ जानेसे गाँववाले बड़े प्रसन्न हुए। रात्रिमें देहाती उसके आँगन में जुटते—अखबारसे समाचार सुनते, रेडियोपर कुछ भजन, लोकगीत सुनते। रातको रामचरितमानसका पाठ होता। कभी भरतचरित्र पर चर्चा छिड़ती, कभी लक्ष्मणचरित्र पर बहस होती। गोविन्दलालके दिन श्रम और सेवामें आनन्दसे बीतने लगे। पतिव्रता पत्नी थी, दो बच्चे थे, घरमें गाय थी, दूध-दही सब सुलभ था।

पाँच वर्ष इस प्रकार बीत गए। संयोगसे गाँवके एक वृद्ध व्यक्ति अधिक बीमार हो गए। उनकी चिकित्साके लिए गोविन्दलाल वाराणसी आया और रोगीको काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके अस्पतालमें भर्ती करा दिया। गोविन्द अपने मित्र रामलखन शर्माके यहाँ ठहरा। उसके मित्र रामलखनने उसीके साथ बी० ए० पास किया था और उसीके पासके एक गाँवका रहने वाला था। रामलखनने बी० ए० पास करके पुस्तकोंकी एक दुकान विश्वविद्यालयके पास ही खोल ली थी। दुकान खूब चल निकली। अच्छी आमदनी थी। सुबह १० बजे खाना खाकर रामलखन पैन्ट शर्ट पहनकर दुकानपर जाता और आरामप्रद कुर्सी पर बैठता। दोनों मित्र तो थे ही; रामलखनने बताया कि इन पाँच वर्षोंमें उसकी दुकान प्रसिद्धि पा गयी है और अब उसकी मासिक आय लगभग एक हजार-की है।

रामलखन बोला "यार बड़े सुखसे जिन्दगी बीत रही है। रविवार को श्रीमतीके साथ सिनेमा चला जाता हूँ। विश्वविद्यालयमें कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम होता है तो मुझे निमंत्रण आता है क्योंकि विश्वविद्यालयके कई प्राध्यापक मेरे परिचित हैं। मैं चार महीनोंमें दो तीन दिनके लिए गाँव हो आता हूँ पर मुझे गाँवमें रहना पसन्द नहीं। शहर-का वातावरण और विश्वविद्यालयका परिसर मुझे बहुत भाता है। दो वर्षसे मैं वाराणसी रोटरी क्लबका सदस्य भी हो गया हूँ। मेरे क्लबमें ८०-८५ मेम्बर हैं। शहरके चुने हुए प्रतिष्ठित व्यक्ति। चलो रोटरी मेरे अतिथि होकर।"

गोविन्द क्लब भी जाता है। वाराणसीके १०-१२ दिनोंके निवासमें रामलखनकी सुख-सुविधा देखकर, वाराणसीके प्रतिष्ठित नागरिकोंमें उसका बढ़ता सम्मान देखकर गोविन्दलालका मन होता है "मैं भी शहर में कुछ व्यापार करलूँ, गाँवमें सारा दिन तेलका काम, हाथ भी गन्दा और कपड़े भी। दिनमें ८-१० घण्टा काम करता हूँ तब भी ४०० रुपयेसे अधिक नहीं बचा पाता। रामलखन कैसी मौजकी जिन्दगी बिता रहा हैं"। एक रात दो बजे तक गोविन्दलालका मन तर्क-वितर्क करता रहा। उसे नींद नहीं आयी। शहरकी लुभावनी जिन्दगीने उसके मनको अस्थिर कर रखा है।

गोविन्दलालसे श्रीभगवान कहते हैं—तेरे लिए तेलीका काम स्वधर्म है। स्वधर्ममें लगा रह। उसीमें तेरा कल्याण है। तूने समझ-बूझकर अपना धन्धा शुरू किया था। उसीको कुशलतापूर्वक कर। ध्यान रख,

सरसोंमें बर्रेके दाने न चले जाँय क्योंकि बर्रेका तेल स्वास्थ्यके लिए हानिकारक है। रामलखनका काम उसके लिए हितकर है, तेरा काम तेरे लिए। धन और सम्मानकी लालचमें अपना नियत काम—स्वधर्म-मत छोड़। तुझे अपना कर्म विगुण—गुण रहित लगे, लोग तुझे तेली कहें तो भी अपना काम मत छोड़। समाजने तेली, धोबी, मोची, भंगी पेशेकी प्रतिष्ठा गिरा रखी है। उसके विरुद्ध तू युद्ध कर। कैसे युद्ध करेगा? मारपीट करके नहीं। तेलीके काममें निष्ठापूर्वक लगे रहकर। जनताको शुद्ध तेल दे। बैलोंको अच्छी खुराक। रामलखन और तू एक साथ किसी सामाजिक काममें जाते हैं, तब रामलखनको तो आगेकी कुर्सी पर बैठाया जाता है और तुझ तेलीको पीछेकी कुर्सी मिलती है, तो तू व्यथित क्यों होता है? समाज तेलीकी प्रतिष्ठा कम करता है, तू उसे सहन कर। तू तो समाजका एक जरूरी काम करता है। उसे खानेके लिए शुद्ध तेल देता है। उसीमें लगा रह। तेरे लिए यही श्रेय है। अपना काम छोड़कर रामलखनका काम करने जाना तेरे लिए भयावह है।

क्या अब मैं मान लूँ कि इस श्लोक द्वारा श्रीभगवान्‌ने जो उपदेश दिया है वह तुम्हें समझमें आ गया?

अर्जुनने पूछा

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

मनुष्य न चाहता हुआ भी जबर्दस्तीसे, किसकी प्रेरणासे पाप करता है?

कभी ऐसा होता है कि मनुष्य स्वेच्छाके प्रतिकूल भी पाप कर बैठता है। कौन है वह जो जबरन पाप कराता है?

श्रीभगवानने कहा

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥३७॥

रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाले काम और क्रोध ही मनुष्यको जबरन पापकी ओर घसीट ले जाते हैं। ये महापापी हैं और कभी पाप करते अघाते नहीं—इन्हें ही अपना शत्रु समझ।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धूएँसे आग या मैलसे दर्पण अथवा झिल्लीसे गर्भ ढका रहता है वैसे ही कामादिरूप शत्रुसे यह ज्ञान ढका रहता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

कभी न तृप्त होनेवाला यह कामरूप अग्नि नित्यका शत्रु है, उससे ज्ञानीका ज्ञान ढका रहता है।

काम-क्रोध-लोभ इत्यादि विकार ही मनुष्यको जबरन पापकी ओर ढकेलते हैं। इन्हींके वश हो मनुष्य अनेक पाप करता है। ये मनुष्यके चिर शत्रु हैं। ये चिर शत्रु या नित्य वैरी हैं इसलिए मनुष्यको सर्वकाल अर्थात सदैव ही इनसे युद्ध करते रहना है। श्रीभगवानने अर्जुनको इन्हीं वैरियोंसे लड़नेके लिए उपदेश दिया है। गीतामें मनुष्यके अभ्यन्तरमें सदैव होते रहने वाले युद्धका वर्णन है। भगवान अर्जुनसे कहते हैं कि अभ्यन्तरमें रहने वाले इन वैरियोंसे सतत लड़ता रह। काम, क्रोध, लोभ आदि विकारोंसे—इन नित्यके दुश्मनोंसे जीवनभर—शरीर रहने तक युद्ध करना पड़ता है। तुम इस बातको ठीक समझ लो—तभी गीताको समझ पाओगे। महाभारत एक महान धर्मग्रन्थ है और गीता उसका सारतत्व है।

हमारे ऋषियोंने हजारों वर्ष पहले कई महत्वपूर्ण अनुसन्धान किये। ये भौतिक नहीं आध्यात्मिक अनुसन्धान थे। इन अन्वेषणोंसे मनुष्यका निरंतर कल्याणका मार्ग प्रशस्त हो गया है। ऋषियोंने जिस सत्यका दर्शन किया, उसे परखा, जाँचा, अनुभव किया, अपनाया और प्रचार किया। मनुष्यका सुख शान्ति और आध्यात्मिक उत्थान जिन मूलभूत सिद्धान्तोंपर आधारित है उन्हींमेंसे एक श्रीभगवान यहाँ अर्जुनको बता रहे हैं। काम-क्रोध आदि विकार ही मनुष्यके वास्तविक शत्रु हैं जो उसे बलात् पापकर्मकी ओर ढकेलते हैं। मनुष्यकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन शत्रुओंका निवास स्थान है। भगीरथ प्रयत्न करके इन शत्रुओंको पछाड़ दो। उपाय भी श्रीभगवान बताते हैं। इन्द्रियोंको नियंत्रणमें रखो। उन्हें मनमानी मत करने दो। इन्द्रियोंको वशमें करके मनको वशमें करो, बुद्धिको वशमें करो, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके नियंत्रणमें आजानेपर काम-क्रोध वशमें आ जायँगे। इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ और बलवान मन है, मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है, बुद्धिसे भी अति श्रेष्ठ, अनन्त सामर्थवान आत्मा है।

आत्माकी अक्षय शक्तिको पहचानों। चित्तके विकारोंको जीतनेका अनवरत प्रयत्न करना ही जीवनकी कला है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, काम-क्रोधके निवासस्थान हैं। इनके द्वारा ज्ञानको ढक कर यह शत्रु देहधारीको बेसुध कर देता है—पथभ्रान्त कर देता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिए तू पहले इन्द्रियोंको वशमें रखकर—नियंत्रणमें करके—ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले इस पापीको अवश्य ही मार डाल।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, उनसे अधिक सूक्ष्म मन है, उससे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है। जो बुद्धिसे भी अत्यंत सूक्ष्म है, वह आत्मा है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार जो बुद्धिसे भी परे है उस आत्माको पहचान कर और आत्मा द्वारा मनको वशमें करके तू कामरूपी दुर्जय शत्रुका संहार कर।

बापूजी गीता-मातामें लिखते हैं—"भगवानके राग-द्वेष रहित होकर किये जानेवाले कर्मको यज्ञरूप बतलानेपर अर्जुनने पूछा "मनुष्य किसकी प्रेरणासे पापकर्म करता है? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पापकर्मकी ओर कोई उसे जबर्दस्ती ढकेल ले जाता है"।

भगवान बोले "मनुष्यको पापकर्मकी ओर ढकेल ले जाने वाला काम है और क्रोध है। दोनों सगे भाईकी भाँति हैं, कामकी पूर्तिके पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम-क्रोधवाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्यके महान शत्रु ये ही हैं। इनसे नित्य लड़ना है। जैसे मैल चढ़नेसे दर्पण धुंधला हो जाता है, या अग्नि धुएंके कारण ठीक नहीं जल पाती है और गर्भ झिल्लीमें पड़े रहने तक घुटता रहता है, उसी प्रकार काम-क्रोध ज्ञानीके ज्ञानको प्रज्वलित नहीं होने

देते, फीका कर देते हैं, या दवा देते हैं। काम अग्निके समान विकराल है और इन्द्रिय, मन, बुद्धि सब पर अपना काबू करके मनुष्यको पछाड़ देता है। इसलिए तू इन्द्रियोंसे पहले निपट, फिर मनको जीत, तो बुद्धि तेरे अधीन रहेगी, क्योंकि इन्द्रियाँ मन और बुद्धि यद्यपि क्रमशः एक दूसरेसे बढ़-चढ़ कर हैं, तथापि आत्मा उन सबसे बहुत बढ़ा-चढ़ा है। मनुष्यको आत्माकी अपनी शक्तिका पता नहीं है, इसीलिए वह मानता है कि इन्द्रियाँ वशमें नहीं रहती, मन वशमें नहीं रहता या बुद्धि काम नहीं करती। आत्माकी शक्तिका विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इन्द्रियोंको, मन और बुद्धिको ठिकाने रखने वालेका काम, क्रोध या उनकी असंख्य सेना कुछ नहीं कर सकती।

इस अध्यायको मैंने गीता समझनेकी कुंजी कहा है। एक वाक्यमें उसका सार यह जान पड़ता है कि जीवन सेवाके लिए है, भोगके लिए नहीं है। अतः हमें जीवनको यज्ञमय बना डालना उचित है। पर इतना जानलेने भरसे वैसा हो जाना संभव नहीं हो जाता। जानकर आचरण करनेपर हम उत्तरोत्तर शुद्ध होते जायेंगे। पर सच्ची सेवा क्या है, यह जाननेको इन्द्रिय दमन आवश्यक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर हम सत्यरूपी परमात्माके निकट होते जाते हैं।"

तीसरा अध्याय पूरा हुआ। दूसरा और तीसरा अध्याय समझमें आ जानेपर गीता समझनेकी कुंजी मिल जाती है। तो बताओ क्या तुम्हें दूसरा और तीसरा अध्याय थोड़ा समझमें आया ? यदि थोड़ा भी समझमें आया तो सन्तोष मानना चाहिये—आनन्दित होना चाहिये।

जब तुम ८-९ वर्षके थे तब अपने पड़ोसके साथी दीपक, श्याम और सुभाषके साथ क्रिकेट खेला करते थे। तुम लोगोंके पास एक बल्ला तीन विकेट और एक गेंद थी। तुम लोग कहीं भी तीन विकेट गाड़ देते थे। बल्ला लेकर तुममेंसे एक विकेटके आगे खड़ा हो जाता था और सामनेसे आती हुई गेंदको बल्लेसे मार कर विकेटकी रक्षा करता था। अगर गेंद लगनेसे कोई विकेट गिर पड़े तो खेलनेवाला आउट हो जाता था। तुम लोगोंको खेलमें कितना आनन्द आता था। तुम्हारा हल्ला-गुल्ला पासके कई मकानों तक सुनाई पड़ता था। ऐसा आनन्द आता कि तुम चारों डेढ़-दो घण्टे तक खेलते थे। जब माँ खानेको बुलाती तो तुम कहते थोड़ी देर और खेल लें। तुम्हें भूख भी भूल जाती थी, ऐसा मन लगता था। गेंदको बल्लेसे रोककर विकेटको गिरनेसे बचाना है बस वही क्रिकेट का लुभावना खेल था। अगर तुन्हें उन्हीं दिनों क्रिकेटके विविध नियम और उप-नियम बताये जाते और क्रिकेटकी पेचीदगी तुम्हें सिखाई जाती और

लेगविफोर विकेट, नोवाल, रन-आउट, फालोआन, पिच, लेगबाई, कवर, स्लिप, गली इत्यादिका शिक्षण दिया जाता तो तुम इन बारीकियोंमें इतना उलझ जाते कि फिर क्रिकेटमें हाथ भी नहीं लगाते। पर ज्यों-ज्यों तुम बड़े हुए तुमने अपने आप क्रिकेटके नियम उप-नियम जाने और उसकी बारीकियाँ समझीं। तुम क्रिकेट स्वयं खेलते रहे, दूसरोंको खेलते देखते रहे और मित्रोंसे इन बातोंकी अनेकों बार चर्चा करते रहे। खेल-खेलमें तुमने क्रिकेटकी कितनी बातें सीख लीं और तुम्हें जैसे पता ही न चला हो कि कैसे तुम्हारी जानकारी इतनी बढ़ गयी। पर अभी भी तुम्हें क्रिकेटकी वहुतसी बातें जाननी बाकी हैं। पाँच साल बाद भी तुम अधिकारपूर्वक नहीं कह सकोगे कि क्रिकेटकी सभी बातें मालूम हैं। लगातार सर्वाधिक रनहीन (मेडन) ओवर फेकनेका कीर्तिमान किसने बनाया ? विश्वके किन खिलाड़ियोंको लगातार तीन टेस्ट मैचकी दोनों पालियोंमें शतक बनानेका श्रेय प्राप्त हुआ है ? भारतभूमि पर किस विदेशी टीमने टेस्ट मैचकी किसी पाली में न्यूनतम रन संख्या बनायी ? इत्यादि अनेकों बाते ऐसी हैं जिन्हें जानना बाकी रह जाता है।

यदि तुमसे कहा जाता कि क्रिकेटकी पूरी जानकारी कर तब तुम खेलना शुरू करो—तो तुम्हें कभी खेलना नहीं आता। तुम ऊब कर क्रिकेट छोड़ बैठते। बचपनमें खेला, मन लगा, बड़े होते गए, खेलते गए, सीखते गए। अभी भी तुम खेलते जा रहे हो। तुम्हारा मनोरंजन हो रहा है, साथ ही जानकारी भी बढ़ती जारही है। अभी तुम और खेलोगे, रेडियोपर टेस्ट मैचके विवरण सुनोगे। प्रत्यक्ष टेस्ट मैचमें फास्ट बाउलिंग और स्पिन बाउलिंग होते देखोगे तो स्वाभाविक रूपसे बिना बहुत माथा-पच्ची किये तुम्हें क्रिकेटकी विशेषता अवगत होती जायगी।

इसी तरह तुम्हें गीताजीको पढ़ना हैं। गीतामें रुचि लो—जैसे तुमने क्रिकेटमें ली थी। गीताको थोड़ा-थोड़ा समझो जैसा तुमने क्रिकेटमें किया था। सारा गीता-ज्ञान एक साथ क्यों प्राप्त करना चाहते हो ? तुम क्रिकेटमें तो अधीर नहीं हुए थे। केवल आनन्दसे खेलते थे। धीरे-धीरे कितना समझ गए। थोड़ा पढ़ो, सुनो, आचरणमें लाओ। पुनः पढ़ो, सुनो, आचरणमें लाओ। गीताको आचरणमें लानेवाले किसी साधकके पास बैठो, उसकी पुस्तकें पढ़ो, उससे पूछो, समझो। पुनः आचरण करनेका प्रयत्न करो। गीता इतनी सरल नहीं कि तुम एक बार पढ़ लेनेसे ही समझ जाओ। गीता इतनी कठिन नहीं कि श्रद्धापूर्वक बार-बार पढ़ने और सम-

झनेका प्रयत्न करनेपर भी कुछ समझमें न आवे। गीता पढ़ो—और जितना समझमें आवे उतना आचरणने लानेका प्रयत्न करो, तब पुनः पढ़ो। तुम्हें गीता समझमें आती जायगी।

गीताको कुछ विद्वान रहस्यमय ग्रन्थ बताते हैं पर गांधीजीने गीताको माता कहा। इससे अधिक प्रिय और ममत्वका और कोई नाम नहीं हो सकता। बच्चेको माता सबसे अधिक प्रिय है। बच्चा उसकी गोदीमें बैठता है, खेलता हैं, हँसता है, रोता हैं। बच्चेके लिए माँ रहस्यमय नहीं हैं। यदि माँ प्रकाण्ड विद्वान है, तो जो शास्त्रार्थ करने आवे वह उसका पाण्डित्य देखे और उसके अद्वितीय ज्ञानसे प्रभावित हो। मेरी तो वह माँ है, जो मुझे प्यार करती है, मुझे गिरनेसे बचाती है, हर समय मेरा ख्याल रखती है। माँ तो बच्चेके पास ही है—जो हर संकटके समय उसकी रक्षा करेगी। बालकका जन्मसिद्ध अधिकार है कि माँकी गोदमें बैठे और हर उलझनमें उसके पास दौड़ कर जाय। माँसे दूर रहकर बच्चा कैसे सुखी रहेगा ?

बापूजी कहते हैं :—

"गीता मेरे लिए माता हो गई है। मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गयी, पर संकटके समय गीता-माताके पास जाना मैं सीख गया हूं। मैंने देखा कि जो कोई इस माताकी शरण जाता है, उसे ज्ञानामृतसे वह तृप्त करती है। गीता हमारी सद्गुरुरूप है, मातारूप हैं, और हमें विश्वास रखना चाहिये कि उसकी गोदमें सिर रखकर हम सही-सलामत पार हो जायंगे।"

तीसरे अध्यायकी शिक्षाको संक्षेपमें दुहरा लें।

(१) मनुष्य एक मिनट भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। उसका स्वभाव ही उससे कुछ न कुछ कर्म करावेगा। बिना कर्म किये शरीर निर्वाह भी नहीं हो सकता। कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है।

(२) मनुष्यको नियतकर्म—अपने हिस्सेमें आया हुआ सेवा-कार्य अनासक्त भावसे करते रहना चाहिये। यज्ञके लिए—परोपकारके लिये किये कार्योंसे मनुष्य कर्मबन्धनमें नहीं फंसता। निष्काम कर्मसे चित्तशुद्ध होता है। जो केवल स्वार्थमय जीवन बिताता है, वह पापी है, व्यर्थ जीता है और कर्मोंसे बंधता है। ज्ञानीको भी आसक्तिरहित होकर लोककल्याणके लिए कर्म करते रहना चाहिये।

(३) जो ईश्वरका नाम जपता है और स्वस्थ रहने पर भी स्वकर्म छोड़ बैठता है वह चोरीका अन्न खाता है। यह जगत् ईश्वरका है—

उसीका बनाया हुआ है। ईश्वरको प्रसन्न करनेके लिए, अपने हिस्सेमें प्राप्त कर्म द्वारा जगतकी सेवा करते हुए ईश्वरका नाम जपते रहना चाहिये। जगतकी सेवा ईश्वरकी सेवा है।

(४) मनुष्यको राग-द्वेषसे बचना चाहिये। स्वधर्ममें ही लगे रहना चाहिये। परधर्म श्रेष्ठ दिखलाई पड़े तब भी उसकी ओर आकर्षित होकर स्वधर्मका त्याग न करे। अपने हिस्सेमें जो सेवाकर्म आ जाय उसे लगन और उत्साहसे करे। स्वधर्म पालन ही मुक्तिका मार्ग है।

(५) काम और क्रोध मनुष्यको बलात् पापकी ओर खींचते हैं। ये मनुष्यके नित्यके दुश्मन हैं। इन्हें जीतनेके लिए पहले इन्द्रियोंको रोकना चाहिये, फिर मनको वशमें करना चाहिये। इन्द्रियोंसे मन और मनसे बुद्धि बढ़-चढ़ कर हैं, तथापि आत्मा इन सबसे अत्यन्त शक्ति-शाली है। आत्माकी सामर्थ्यका भान होते ही काम-क्रोध पर विजय पाना आसान हो जाता है।

■

चौथा अध्याय

श्रीभगवानने अर्जुनको समझाया कि निष्काम कर्मयोग यानी बिना आसक्तिके कर्म करनेकी बात नयी नहीं है। यह बहुत प्राचीन है। तुम मेरे भक्त हो और धर्म-संकटमें हो इसलिए इस पुरातन विचारधाराको मैंने पुनः तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत किया है। जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब मैं प्रकट होकर साधुओंकी रक्षा और पापियोंका संहार करता हूँ। मेरे भक्त विश्वास रखते हैं कि साधु पुरुषकी रक्षा ईश्वर करता है। ऐसे मनुष्य कभी धर्मका त्याग नहीं करते। राग, भय और क्रोध छोड़कर अनन्य भावसे मेरेमें मन लगानेवाले अन्तमें मुझीको प्राप्त करते हैं। मनुष्य जैसा करता है वैसा फल पाता है।

गुणकर्मके भेदसे मैंने चार वर्णोंकी रचनाकी है। फिर भी मुझे उनका कर्ता मत समझो। मुझे किसी कर्मके फलकी आकांक्षा नहीं है इसलिए कर्मका पाप-पुण्य मुझे नहीं लगता। जगतकी सारी प्रवृत्तियाँ ईश्वरीय नियमोंके अनुसार चलती रहती हैं, फिर भी ईश्वर उनमें लिप्त नहीं होता। उन प्रवृत्तियोंका वह कर्ता भी है और अकर्ता भी। मनुष्य इसी प्रकार यदि निष्काम होकर, फल इच्छारहित कर्म करे तो मोक्ष पा जाय। जिसके समस्त कार्य कामना और संकल्पसे रहित हैं—उसके कर्म ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा भस्म हो गए हैं। ऐसेको ज्ञानी लोग पंडित कहते हैं। जो आशा रहित है, जिसका मन अपने वशमें है, जिसने सारा संग्रह छोड़ दिया है, जो यथालाभसे संतुष्ट रहता है, जो सुख-दुखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त हो गया है, जो सफलतासे फूलता नहीं और असफलतासे खिन्न नहीं होता, जो ईर्ष्यासे मुक्त है वह कर्म करता हुआ भी उसके बन्धनमें नहीं पड़ता है। ऐसे कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्म यज्ञरूप यानी सेवाके लिए ही होते हैं। वह व्यक्ति सब जगह परमेश्वरका दर्शन करता है और अन्तमें उसीको पाता है।

यज्ञ अनेक प्रकारके कहे गये हैं। इन सबके मूलमें शुद्धि और सेवा की भावना होती है। इंद्रिय दमन एक प्रकारका यज्ञ है, दान देना भी यज्ञ है। प्राणायामादि भी शुद्धिके लिए किये जाने वाले यज्ञ हैं। इनका ज्ञान किसी ज्ञानीसे विनय और सेवा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान मनुष्यको कर्मबन्धनसे मुक्त कर देता है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इसीसे शान्ति प्राप्त होगी।

श्रीभगवानने कहा—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

जिसके समस्त आरम्भ कामना और संकल्प रहित हैं, उसके कर्म ज्ञानरूपी अग्नि द्वारा भस्म हो गए हैं। ऐसेको ज्ञानीलोग पंडित कहते हैं।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

श्रद्धावान, ईश्वरपरायण, जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरन्त शान्तिको पाता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

जो अज्ञानी श्रद्धा रहित है और संशयग्रस्त है उसका नाश हो जाता है। संशयग्रस्तके लिए न तो यह लोक है, न परलोक है। उसे कहीं सुख नहीं है।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

इसलिए हृदयमें अज्ञानसे उत्पन्न हुए संशयको आत्म-ज्ञान-रूपी तलवारसे नाश करके तू समत्वरूप कर्मयोगके आचरण हेतु खड़ा हो।

श्रीभगवान कहते हैं 'जो श्रद्धा रहित और संशयग्रस्त है उसका नाश हो जाता है। संशयग्रस्तको न यह लोक है न परलोक एवं उसे सुख भी नहीं है।' संशययुक्त मनुष्यकी ऐसी दयनीय स्थिति श्रीभगवानने बतायी। फिर भी हम अनेक प्रकारकी शंकाओंमें मनको उलझाये रखते हैं और दुःखी रहते हैं। सन्त कहते हैं कि भलाई करनेवालोंका भला ही होता है। पर हमें शंका बनी रहती है कि कितने लोग बुराई करके भी सुखीसे दीखते हैं। हम गाते हैं 'कुछ भला होता नहीं करके भलाई देखली।' संत कवि कहते हैं 'जो तोको काँटा बुवे ताहि बोइ तू फूल।' हम पढ़ते हैं—याद भी कर लेते हैं—पर इसे आचरणमें लाया जा सकता है इसका सन्देह हमें बना रहता है। शास्त्र वचन पर शंका और अधीरताके कारण ही हम भलाई पर अन्त तक नहीं टिक पाते और बुराईका बदला बुराईसे लेने लगते हैं। इस प्रकारके सभी संशयको नष्ट करनेके लिए सबसे जरूरी है ईश्वर पर जीवन्त श्रद्धा। धर्मग्रंथ

और संत पुकार-पुकार कर कहते हैं 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना।' हमारे दिलमें यकीन नहीं होता। ईश्वर पर श्रद्धा दृढ़ करनेके लिए हमें संतोके वचनों पर विश्वास करना चाहिये।

जब भूगोलवेत्ता कहते हैं कि सूर्य पृथ्वीसे कई गुना बड़ा है या हिमालयका एवरेस्ट शिखर पृथ्वीका सर्वोच्च शिखर है तो हम मान लेते हैं जबकि हमने देखा नहीं है। जब इतिहासकार कहते हैं कि अकबर सन् १५५६ में राजगद्दी पर बैठा और प्लासीका युद्ध सन् १७५७ में हुआ तो हम विश्वास कर लेते हैं जबकि हमने देखा नहीं है। जब शंकराचार्य, नानक, तुलसीदास, सूरदास, मीरा, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, मदनमोहन मालवीय, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी और हनुमानप्रसाद पोद्दार कहते हैं कि ईश्वर है और सर्वत्र व्याप्त है तो हमें श्रद्धापूर्वक विश्वास करना चाहिये, चाहे हमें अबतक उसकी अनुभूति न भी हुई हो। श्रद्धा सुखी जीवनकी नींव है।

दूधमें मक्खन सर्वत्र व्याप्त है। पर दिखाई नहीं देता। मथानी ही मक्खनको प्रकट करती है। श्रद्धाकी मथानीसे हम सर्वत्र व्याप्त ईश्वरके दर्शन कर सकते हैं। जहाँ हम बैठे हैं आकाशवाणीकी तरंगें आ रही हैं। हम उनमें निहित ध्वनिको नहीं सुन सकते। रेडियो खोलो और आकाशवाणीकी आवाज आने लगेगी। ध्वनिकी तरंगोंको आवाजमें बदलनेके लिए रेडियोकी सहायता चाहिये। सर्वत्र व्याप्त ईश्वरको तुम श्रद्धाके माध्यमसे ही देख सकते हो। संत अडिग श्रद्धासे ही निराकार ईश्वरका सर्वत्र दर्शन करते हैं।

गांधीजी कहते हैं—"ईश्वरके दर्शन आँखसे नहीं होते। ईश्वरका शरीर नहीं है, इसलिए उनके दर्शन श्रद्धासे ही होते हैं।

मेरी आस्थामें ऐसी चीजोंमें भी विश्वास है जिनमें तर्कके लिए कोई स्थान नहीं है, जैसे कि ईश्वरकी सत्तामें। कोई भी तर्क मुझे उस आस्थासे डिगा नहीं सकता। मैं किसी बहुत अधिक बुद्धिमान व्यक्तिसे तर्कमें परास्त होकर भी बार-बार यही कहना चाहूंगा कि 'फिर भी ईश्वर है'।

जैसे सुनना आँखका विषय नहीं है, वैसे ईश्वरको पहचानना इन्द्रियोंका या बुद्धिका विषय नहीं है। इसके लिए दूसरी ही शक्ति चाहिये और वह है अचल श्रद्धा।

श्रद्धामें निराशाको कोई स्थान नहीं है।
जो श्रद्धा कभी बुझती नहीं मगर बढ़ती है, वह अनुभवका रूप लेती है।
श्रद्धा ही जिन्दगीका सूरज है।"

■

पांचवां अध्याय

अर्जुनने प्रश्न किया—आप कर्मसंन्यासकी और फिर कर्मयोगकी प्रसंशा करते हैं। निश्चयपूर्वक कहिये कि इन दोनोंमें श्रेष्ठ क्या है?

भगवानने कहा कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों ही अच्छे हैं। उन दोनोंमें से एकको चुनना हो तो मैं कहूँगा कि निष्काम कर्मयोग–आसक्ति रहित कर्मका आचरण श्रेष्ठ है। जो न तो किसीसे द्वेष रखता है, न कोई इच्छा रखता है, उस मनुष्यको कर्म करते रहने पर भी संन्यासी ही समझना चाहिये। राग-द्वेष आदि द्वन्दोंसे मुक्त हुआ पुरुष सहजमें कर्म बंधनोंसे छूट जाता है। ज्ञान और कर्मयोगमें भेद तो अज्ञानी लोग मानते हैं। परिणाम तो दोनों का एक ही है। निष्काम कर्म करते रहनेसे मनुष्यकी संकल्प शक्ति बढ़ जाती है और बाहरी कर्मोंमें कमी होती जाती है। उसका संकल्प ही सेवाका रूप धारण कर लेता है। ऐसा मनुष्य कुछ नहीं करता है, ऐसा मानना ठीक नहीं है।

जो मनुष्य कर्मोंको ईश्वरको अर्पण करके आसक्ति छोड़कर आचरण करता है वह पापसे अलिप्त रहता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति परिणामके चक्करमें फँसा है, वह तो कैदीकी तरह कामनाके पाशमें बँधा ही रहता है। कर्मयोगी सब कर्मोंकी आसक्तिको मनसे त्यागकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। कर्मफलके त्याग करनेवालेको पाप और पुण्य लिप्त नहीं करते। ज्ञानके द्वारा पाप रहित हुए पुरुष समदर्शी होते हैं। उनकी दृष्टिमें विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और विवेकहीन मनुष्य सब समान हैं। वह सब पर समान भावसे दया करेगा, समान भावसे सबकी सेवा करेगा। अनासक्त पुरुष न तो किसी पर रीझते हैं और न किसीसे खीझते हैं। उनको अपने भीतरसे शान्ति मिलती रहती है। सब प्राणियोंकी भलाईमें वे लगे रहते हैं। इन्द्रियजन्य सारे भोग दुःखके कारण हैं। जो मनुष्य काम और क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ है, वही सुखी है। जिसने इंद्रियां, मन और बुद्धिका संयम कर लिया है तथा जिसके भय, इच्छा और क्रोध छूट गये हैं वह सदा मुक्त ही है।

श्री भगवानने कहा

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।

कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याण करने वाले हैं। उन दोनोंमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग श्रेष्ठ है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।

ब्रह्मको कर्म अर्पे जो, फलासक्ति न हो जिसे ।
उसे पाप नहीं छूता, जल ज्यों पद्मपत्र को ।।

जो मनुष्य कर्मोंको ब्रह्मार्पण करके, आसक्ति त्यागकर कर्म करता है, वह पापसे उसी तरह अलिप्त रहता है जैसे जलमें रहने वाला कमल जलसे अलिप्त रहता है।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डालमें समदृष्टि रखते हैं।

समस्त प्राणियोंमें एक ही आत्माका दर्शन करनेसे ही मनुष्य समदर्शी हो सकता है। समदर्शी सब प्राणियोंका हितैषी होगा और आवश्यकता पड़नेपर सबकी सेवा करेगा।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।

इन्द्रियों तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होने वाले सब भोग दुःखोंके कारण हैं। बुद्धिमान मनुष्य उनमें नहीं फंसता।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।।

तनुके त्यागके पूर्व, सहनेमें समर्थ जो।
कामका क्रोधका वेग, वही युक्त वही सुखी ।।

देहांतके पहले जिस मनुष्यने इस देहसे ही काम और क्रोधके वेगको सहन करनेकी शक्ति प्राप्तकी है, उस मनुष्यने समत्वको पाया है और वही सुखी है।

संसारके झमेलोंसे जिसे झुँझलाहट नहीं होती, संसारकी विविध हलचलोंसे जिसे तनाव नहीं होता, जो काम और क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है—वही सुखसे जीता है।

मैंने एक आख्यायिका पढ़ी थी:—

एक गाँवमें जब रहट द्वारा पानी कूएंसे निकल रहा था, एक घुड़सवार अपने घोड़ेको पानी पिलानेके लिए आया। शहरके घोड़ेको रहटकी आवाज सुननेका अभ्यास न था, इसलिए वह भड़का और पानी नहीं पिया। जो किसान रहट चला रहा था, उससे घुड़सवारने रहट बन्द करनेको कहा। रहटका शब्द तो बन्द हो गया पर साथ-साथ जलका आना भी बन्द हो गया। घोड़ा पानीके कुंडकी ओर बढ़ा, पर वहाँ पानी बिल्कुल नहीं था। घुड़सवारने किसानसे कहा—"मैंने तुम्हें रहटकी आवाज बन्द करनेको कहा था, पानी बन्द करनेको नहीं।" किसानने समझाया कि यदि तुम पानी चाहते हो तो आवाजके होते हुए ही तुम अपने घोड़ेको पानी पीनेके लिए पुचकारो, क्योंकि जब आवाज बन्द होती है तब पानी भी बन्द हो जाता है।

संसार रहेगा तो उसके विकार भी रहेंगे। तुम्हारी शान्तिके लिए संसारके समस्त कोलाहल बन्द नहीं किये जा सकते। इस जगत्में तुम ऐसी स्थायी स्थिति नहीं पा सकते जहाँ मान-अपमान, जय-पराजय, राग-द्वेष और काम-क्रोधके विकार न हों। इनके बीच रहते हुए भी तुम्हें शान्तचित्त रहना सीखना है। गीता तुम्हें संसारके कोलाहलके मध्यमें-युद्ध क्षेत्रमें—शान्त रहना सिखाती है। गीता कहती है तुम अनासक्त बनो। सब कर्म ईश्वरको अर्पण करो। जो मनुष्य ईश्वरको अर्पण करके और आसक्ति त्यागकरके कर्म करता है वह संसारमें रहते हुए भी उससे उसी प्रकार अलिप्त रहता है जैसे कमल जलमें रहकर भी जलसे अलिप्त रहता है।

संसार एक परीक्षालय है जहाँ विविध घटनाओं, सुख-दुःख हानि-लाभ, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान और बुराई-भलाई द्वारा मनुष्यकी अनासक्तिकी परीक्षा होती है। अपने हिस्सेमें आयी सांसारिक प्रवृत्तियोंमें भाग लेकर भी जो मानव राग-द्वेष रहित रहता है, अलिप्त रहता है, वही परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ समझा जायगा। गीताजी शिक्षक हैं, संसार परीक्षक है। अनासक्तिकी शिक्षा गीतासे प्राप्त करो और परीक्षा देनेके लिए संसारमें स्वधर्माचरण करो। अनासक्तिका प्रमाण-पत्र संसार ही देगा। विभिन्न सांसारिक प्रवृत्तियोंसे विमुख हो बैठने वालेको अनासक्त समझना, परीक्षामें सम्मिलित न होने वाले विद्यार्थीको उत्तीर्ण समझने जैसा है।■

छठा अध्याय

श्री भगवानने छठे अध्यायके प्रथम श्लोकमें स्पष्ट निर्णय दे दिया है कि कर्मफलका आश्रय लिये बिना जो मनुष्य विहित कर्म करता है वह संन्यासी है और वही योगी है। जो समस्त क्रियाओंका त्याग करके बैठ जाता है वह न तो संन्यासी है और न योगी। मनुष्यको कर्म करना—विहित कर्म करना—अच्छे कर्म करना अनिवार्य है।

लोकमान्य तिलक 'भगवद्गीता-रहस्य में' लिखते हैं 'ज्ञान-भक्ति युक्त कर्मयोग' ही गीताका सार है।

ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग एक दूसरेसे अलग-अलग मार्ग नहीं हैं। इस बातको बड़े सरल ढंगसे गांधीजीने अपने एक पत्रमें समझाया है।

बापूजी लिखते हैं "ज्ञान भक्ति और कर्म ईश्वरप्राप्तिके तीन अलग मार्ग नहीं हैं, बल्कि ये तीनों मिलकर एक मार्ग है। उसके तीन भाग सुविधा के लिए कर दिये गए हैं। पानी हाइड्रोजन और आक्सीजनका बना है; लेकिन पानी न तो हाइड्रोजन है और न आक्सीजन। वैसे ही न तो ज्ञान अकेला प्राप्तिमार्ग है और न अकेली भक्ति। लगभग ऐसा कहा जा सकता है कि प्राप्ति-मार्ग तीनों का मिला हुआ रासायनिक प्रयोग है। इस उपमामें दोष है, फिर भी मैं जो कहना चाहता हूँ उसे समझानेके लिए यह काफी है"।

अब तुम्हें यह समझमें आ गया होगा कि ज्ञान, भक्ति और कर्मके द्वारा हमें और तुम्हें आध्यात्मिक जीवनकी ओर आगे बढ़ना है।

इस पथपर बढ़नेके साधन भगवान बताते हैं। सबसे पहला और सबसे महत्वपूर्ण साधन है, आत्मविश्वास।

श्रीभगवान कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

आपको आप उद्धारे आपको गिरने न दे।
आत्मा ही बन्धु आत्माका, आत्माका रिपु भी वही ॥
आत्मबन्धु वही, जीता आत्माको जिसने स्वयं।
नहीं आत्मजयी है जो, आत्मशत्रु वही स्वतः ॥

मनुष्यको चाहिए कि वह अपने आपको ऊपर उठाए, अपने आपको नीचे न गिराए, क्योंकि आत्मा ही अपना मित्र है और केवल आत्मा ही अपना शत्रु है। जिसने अपने आपको जीत लिया वह स्वयं अपना बन्धु है, परन्तु जो अपने आपको नहीं पहचानता वह स्वयं अपने साथ शत्रुके समान बर्ताव करता है।

लोकमान्य तिकक लिखते हैं—"इन दो श्लोकोंमें आत्मस्वतंत्रताका वर्णन है और इस तत्वका प्रतिपादन है कि हर एकको अपना उद्धार आप ही करना चाहिये, और प्रकृति कितनी भी क्यों न हो उसको जीतकर आत्मोन्नति कर लेना हरएकके बलवती बसकी बात है"।

अंग्रेजीके प्रसिद्ध लेखक स्वेट मार्डेनने अनेक प्रेरणाप्रद पुस्तकें लिखीं हैं। उनकी बहुतसी पुस्तकोंका हिन्दीमें अनुवाद हुआ है। उनकी पुस्तकों से उत्साह, आशा, विश्वास विकसित होता है और जीवनको नया मोड़ देनेकी प्रेरणा मिलती है। वे तरह-तरहके उदाहरण देकर तुमसे आग्रह करते हैं कि अपनी छिपी हुई शक्तिको पहचानो, अपने व्यक्तित्वको विकसित करो, आगे बढ़ो, निराश मत हो, अपनी उन्नति आप करो। श्रीभगवानने ऊपरके दो श्लोकोंमें उन सभी बातोंको सूत्र रूपमें कह दिया है।

'गीता-प्रवचन' में विनोबा कहते हैं—

"गीता चाहती है कि मनुष्य अपना व्यवहार शुद्ध करके परमोच्च स्थितिको प्राप्त करे। इसीके लिए गीताका जन्म हुआ है। अतएव मैं जड़ हूँ, व्यवहारी हूँ, सांसारिक जीव हूँ—ऐसा कहकर अपने आस-पास बाड़ मत लगाओ। मत कहो कि मेरे हाथोंसे क्या होगा? तुम आगे बढ़नेकी—ऊपर चढ़नेकी हिम्मत रखो। ऐसी हिम्मत रखो कि मैं अपनेको अवश्य ऊपर चढ़ा ले जाऊँगा। यह मानकर कि मैं क्षुद्र सांसारिक जीव हूँ, मनकी शक्तिको मार मत डालो। कल्पना के पंख मत काट डालो। अपनी कल्पनाको विशाल बनाओ।

हम जितने ऊँचे जा सकते थे उतने भी न जाकर अपनी कल्पना और भावनाओंपर रुकावटें डाल अपनेको और नीचे गिरा लेते हैं। जो शक्ति प्राप्त है उसे भी अपनी हीन भावनासे नष्ट कर लेते हैं। जहाँ कल्पनाके पाँव ही टूट गए

तो फिर नीचे गिरनेके सिवाय क्या गति होगी ? अतः कल्पनाका रुख हमेशा ऊपरकी ओर होना चाहिए। कल्पनाकी सहायतासे मनुष्य आगे बढ़ता है, अतः कल्पनाको सिकोड़ मत डालो। यदि उच्च आकांक्षा नहीं रखोगे तो एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकोगे।"

तुमने विनोबा-वाणी सुनी जो कह रही है "ऐसी हिम्मत रखो कि मैं अपनेको अवश्य ऊपर चढ़ा ले जाऊँगा। अवश्य ही तुममें ऊपर चढ़ने की हिम्मत आई है—तुम्हारी इच्छा जाग्रत हुई है।

आओ, अब बैठकर कुछ विचार करें। क्या ईश्वरने, जो मनुष्यमात्र–प्राणीमात्रका पिता और हितचिन्तक है, मनुष्यके लिए आध्यात्मिक जीवन, पवित्र जीवन, शान्तिमय जीवन बिताना इतना कठिन बना दिया है कि कुछ ही लोग बिता सकते हैं ? क्या आत्मदर्शन इतना दुर्लभ है कि कुछ इने-गिने व्यक्ति ही कर सकते हैं ? नहीं-नहीं। जिस मालिकने सब जरूरी चीजें हवा, पानी, प्रकाश, धूप, भोजन, निद्रा सभी मनुष्योंके लिए—सभी जीवधारियोंके लिए—सुलभ कर रखा है क्या वह आत्म-दर्शन इतना दुष्कर बनाकर रखेगा कि कुछ व्यक्ति ही आत्मदर्शन पा सकें। नहीं नहीं। परमपिताकी मनुष्यपर बड़ी कृपा है। उसने आत्म-दर्शन, दिव्यजीवन सबके लिए इष्ट और शक्य बना रखा है। आत्म-दर्शन इतना सरल भी नहीं कि तप, त्याग, संयम, अस्तेय, सेवा, अहिंसा और सत्यपालन बिना प्राप्त हो जाय। आत्मदर्शन इतना कठिन भी नहीं कि इसे प्राप्त करने के लिए गृहस्थाश्रम त्याग हिमालयकी गुफामें जाकर कठोर तप करना अनिवार्य हो।

ईश्वरकी यह इच्छा है कि सभी मनुष्य आत्मदर्शन करें और उसने ऐसी व्यवस्था भी की है। एक कहावत है 'जो नर करनी करे तो नारा-यन होय'। ब्राह्मण करनी करे ऐसा नहीं कहा। कोई भी नर-नारी करनी कर सकता है। कौन कितना करनी कर सकता है यह उसकी योग्यता, संयम, तप, त्याग, लगन, पूर्व जन्मके संस्कार और प्रभु-कृपापर निर्भर है। पर सभी उस लक्ष्यकी ओर आगे बढ़ सकते हैं, चाहे धीमी गतिसे ही सही।

दिल्लीसे कलकत्ते जानेवाली रेलगाड़ीमें बैठनेवाला—कलकत्ते पहुँचेगा जरूर। पहुँचनेमें कितना समय लगेगा यह इस बातपर निर्भर करता है कि वह मेलसे जाता है, एक्सप्रेससे जाता है या पैसेन्जरमें बैठता है। दूसरी इस बातपर निर्भर करेगा कि वह अनेक स्टेशनों पर उतरता

हुआ, जगह-जगहपर कुछ दिन ठहरता हुआ जाता है या सीधे दिल्लीसे कलकत्तेका टिकट लेता है और कहीं रुकता नहीं। आध्यात्मिक प्रगतिमें ऊपरकी उपमा दी जा सकती है। साधककी प्रगति इस बातपर निर्भर करती है कि लक्ष्यकी ओरसे विमुख करनेवाले प्रलोभन उसे कितनी बार और कितनी देरतक इधर-उधर उलझाये रखते हैं। सबलोग मेल ट्रेनसे और सीधे दिल्लीसे कलकत्ता नहीं जा सकते।

श्रीभगवान सर्वसाधारणको पथ प्रदर्शन कर रहे हैं। श्रीभगवान कहते हैं "शनैः शनैः—धीरे-धीरे—आहिस्ता-आहिस्ता—आध्यात्मिक जीवनकी ओर अग्रसर हो। अपनी चालसे चलो। हताश होनेकी कोई बात नहीं। खरगोश अपनी चालसे चलेगा और कछुआ अपनी चालसे। जरूरी शर्त यह है कि उसका जीवन, उसका आचरण लक्ष्यकी ओर हो, उससे विमुख न हो जाय।

विनोवा कहते हैं—"मनुष्यका तत्वज्ञान उसकी बुद्धिमें गुप्त रहेगा। प्रगट होगा उसका आचरण। उसके आचरणसे ही उसके तत्वज्ञानका नाप संसारको व उसको भी मालूम होगा। आचरण व ज्ञानमें अन्तर भले ही रहे, पर विरोध हरगिज नहीं रहना चाहिये और अन्तर भी सतत कम करते जाना चाहिये।" विनोवाकी वाणीको मैं दुहरा रहा हूँ—

"आचरण व ज्ञानमें अन्तर भले ही रहे पर विरोध हरगिज नहीं रहना चाहिये और अन्तर भी सतत कम करते जाना चाहिये।"

कर्मयोगीका जोवन प्रारम्भ करनेमें क्या खाना-पीना, आहार-विहार, मनोरंजन और सुखके सब साधन छोड़ने पड़ेंगे? छोड़ना नहीं पड़ेगा, उसे मर्यादित करना पड़ेगा—शुद्ध करना पड़ेगा।

श्रीभगवान कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

न योग अतिभोजीको, न नितान्त अभुक्तको।
जो विशेष जगे सोवे, उसके अर्थ भी नहीं ॥
ठीक-से जागते सोते, खाते पीते विहारते।
योग्य कर्मकृतीका ही, योग है दुःखभंजक ॥

अतिशय खानेवाले या बिल्कुल न खानेवालेको, और खूब सोनेवाले अथवा जागरण करनेवालेको यह योग सिद्ध नहीं होता। जिसका आहार विहार नियमित है, कर्मोंका आचरण नियमित है और सोना-जागना नियमित है उसको यह योग दुःखरहित अर्थात् सुखप्रद होता है।

कल्याणमार्गपर चलने वालेके लिए कठोर सावना इष्ट नहीं। उसे आहार-विहारको नियमित करना है, परिमित करना है। ध्यान पूर्वक देखते रहना है कि आहार विहार कहीं अपरिमित तो नहीं हो रहे हैं।

विनोबाके शब्दोंमें—"औषध जैसे नाप–तौलकर ली जाती है वैसे ही आहार–निद्रा भी नपी–तुली होनी चाहिये। जीवनमें सब जगह, चारों तरफ नाप-तौल करनी चाहिए। प्रत्येक इन्द्रिय पर पहरा बिठाना चाहिये। मैं ज्यादा तो नहीं न खाता हूँ, अधिक तो नहीं न सोता, जरूरतसे ज्यादा तो नहीं न देखता—ऐसा ध्यान बारीकीसे निरन्तर रखना चाहिये। यह मन भी बहुत जबरदस्त है। जरा कहीं खटका हुआ, आहट हुई कि गया उधर ध्यान। अतः जीवनमें परिमितता लाओ। खराब चीज नहीं देखें। खराब किताब नहीं पढ़ें। निन्दा–स्तुति नहीं सुने। सदोष वस्तु तो दूर, निर्दोष वस्तुओंका भी जरूरतसे ज्यादा सेवन न करे। लोलुपता किसी भी प्रकारकी न होनी चाहिये। शराब, पकोड़ी, रसगुल्ले तो होने ही नहीं चाहिए, परन्तु सन्तरे, केले, मौसमी भी बहुत नहीं चाहिये। फल–आहार यों शुद्ध आहार है, परन्तु वह भी अनाप-शनाप नहीं होना चाहिये। जीभका स्वेच्छाचार भीतरी मालिकको सहन न होना चाहिये। इन्द्रियों पर धाक रहनी चाहिये कि यदि हम ऊट पटांग करेंगे तो भीतरका मालिक हमें जरूर सजा देगा। नियमित आचरणको ही जीवनकी परिमितता कहते हैं।"

विनोबाकी बात सुनकर तुम्हें कल्याणमार्ग पर चलना कठिन लगने लगा क्या? विनोबा रसगुल्ला छोड़नेको कहते हैं, यह तो जरूर कठिन बात है। शराब, बीड़ी, सिगरेट छोड़ देंगे—रसगुल्ला क्या बुरा है? छेनाकी मिठाई। क्यों यह बात मनमें उठती है न? इसीलिए न श्री भगवानने कहा कि शनैः-शनैः आहिस्ता—एक-एक करके। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं।

समिटि समिटि जल भरहिं तलावा॥
जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा॥

एक-एक करके अपनेमें गुण बढ़ाओ। विनोबा बड़ी तेजीसे कल्याण मार्गपर चले जा रहे हैं। उनकी सराहना करो पर तुम चलो अपनी चाल

से। शराब, बीड़ी, सिगरेट, जूआ, खराब पुस्तकें तो छोड़ो, रसगुल्ला छोड़नेका समय आवेगा तो तुम उसे भी आसानीसे छोड़ सकोगे। रसगुल्ला नहीं छोड़ पाते तो क्या शराब, बीड़ी, सिगरेट भी नहीं छोड़ोगे ?

भगवान बुद्धने भी मध्य मार्ग "युक्ताहार विहारस्य" वाला मार्ग अपनानेका उपदेश दिया है। गौतमबुद्ध निकले सत्यकी—कल्याणमार्गकी खोज करने। कल्याणमार्गकी खोजमें कठोर साधनामें लग गये। उन्होंने छः वर्ष तक दुष्कर तप किया। छः वर्ष उग्र तपस्या करनेपर भी वे कल्याण मार्ग पर बहुत आगे नहीं बढ़ पाये। कमजोरी इतनी ज्यादा बढ़ गयी कि चार छः कदम चलना भी मुश्किल हो गया। एक दिन कमजोरीके कारण वे बेहोश होकर गिर पड़े। होश आने पर जब वे उठे तो उन्हें प्रतीत हुआ कि कठोर तपसे बुद्धत्व लाभ नहीं होगा। अत्यन्त काय-क्लेश और अत्यन्त सुख दोनोंका त्याग करके मध्यममार्गका अनुगमन करनेका उन्होंने निश्चय किया। सुजाता द्वारा प्रदत्त खीर खाई—जीवनका संचार हुआ। वे पुनः आसन लगाकर पीपलके वृक्षके नीचे बैठे और ध्यान करते-करते उन्हें हृदयके अन्दर प्रकाश मिला। जो मार्ग वे खोजते थे उन्हें मिल गया।

उन्होंने मध्यमार्गका उपदेश दिया। सभी क्षेत्रोंमें उग्रता अथवा अतिशयताको छोड़ मध्यम मार्गका अनुसरण करनेका उन्होंने आग्रह किया। कठोर तप करके शरीरको सुखाना और भोगोंकी अधिकता इन दोनोंके बीचका मार्ग ही सही मार्ग है। सब पापोंको छोड़कर शुभ कर्म करना चाहिए। यह मध्यम मार्ग जो अष्टांग मार्ग कहा जाता है इस प्रकार है—

१. सम्यक् दृष्टि — २. सम्यक् संकल्प
३. सम्यक् वचन — ४. सम्यक् कर्म
५. सम्यक् आजीविका — ६. सम्यक् व्यायाम
७. सम्यक् स्मृति — ८. सम्यक् समाधि

सभी सम्यक् होना चाहिये, उचित होना चाहिये, ठीक होना चाहिये, युक्त होना चाहिये।

सितारका तार बहुत कसा रहेगा तो आवाज ठीक नहीं निकलेगी, तीव्र हो जायगी। अगर तार बहुत ढीला रखा गया, तो भी आवाज ठीक नहीं निकलेगी। तारको मध्यम स्थितिमें रखोगे तभी मधुर स्वर निकलेगा। यही साधनाकी समतुला है, मध्यम मार्ग है।

मलूकदास इसी मध्यम मार्गसे चलकर ईश्वरको प्रसन्न करनेको कहते हैं—

ना वह रीझै जप-तप कीन्हें, ना आतम को जारे।
ना वह रीझे धोती टाँगे, ना कायाके पखारे॥
दया करे, धरम मन राखे, घरमें रहे उदासी।
अपना सा दुःख सबका जाने, ताहि मिले अविनाशी॥
सहै कुशब्द, बादहू त्यागै, छाड़ै गर्व गुमाना।
यही रीझ मेरे निरंकार की, कहत मलूक दिवाना॥

मध्यम मार्गसे चलनेवालेको पैन्ट शर्ट उतारना जरूरी नहीं। घर गृहस्थी, माता-पिता, पुत्र-पुत्रीको छोड़ना जरूरी नहीं। वेश-भूषाको बदलना जरूरी नहीं। अपना व्यवसाय, अपनी आजीविका सम्यक् करनी है, शुभ करनी है, उपयोगी करनी है। आचार विचारको युक्त करना, सम करना है। जीवन भोगके लिए नहीं सेवाके लिए है इस भावनाको क्रमशः विकसित करना है। जीवनको सादा, सरल बनाकर परहितमें समर्पित करना है।

महाभारतमें व्यासजी कहते हैं—

ये पापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्म बुद्धिभिः।
ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम्॥

जो मन, वाणी, कर्म और बुद्धिके द्वारा कभी पाप नहीं करते हैं, वे ही महात्मा तपस्वी हैं। शरीरको सुखादेना ही तपस्या नहीं है।

तिष्ठन् गृहे चैव मुनिर्नित्यं शुचिरलंकृतः।
यावज्जीवं दयावांश्च सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

जो निरंतर घरपर रहकर भी पवित्रभावसे रहता है, सद्गुणोंसे विभूषित होता है और जीवनभर सब प्राणियों पर दया रखता है, उसे मुनि ही समझना चाहिये। वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।

श्रीभगवानने कहा—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥

आत्माको परमात्माके साथ जोड़नेका प्रयत्न करनेवाले स्थिरचित्त योगीकी स्थिति वायु-रहित स्थानमें अचल रहने वाले दीपककी-सी कही गई है।

जिस प्रकार वायु-रहित स्थानमें रखे हुए दीपककी ज्योति बिना किसी व्यवधानके अविचल रहती है उसी प्रकार परमात्माका ध्यान करने वाले योगीका चित्त स्थिर रहता है।

इस योगका अभ्यास दृढ़ संकल्प और अनुद्विग्न चित्तसे किया जाना चाहिये।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सारी कामनाओंको त्यागकर, इन्द्रियोंको मन द्वारा वशमें करके, धैर्ययुक्त बुद्धिसे योगी धीरे-धीरे शान्तिको, स्थिरताको, प्राप्त करे और मनको आत्मामें पिरोकर, दूसरी किसी बातका चिन्तन न करे। चंचल और अस्थिर मन जिस-जिस ओर भागने लगे, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर परमात्माके चिन्तनमें एकाग्र करे।

साधकके लिए मनको विषयोंसे बार-बार हटाकर परमात्माके चिन्तन में लगाना कोई थका देने वाला नीरस प्रयास नहीं है वरन यह एक मनोरंजक सुखदायी वृत्ति है। जिस प्रकार फुटबालका एक चतुर खिलाड़ी फुटबालको जहाँ-तहाँसे खींचकर उसे गोलमें ही डालनेकी चाह रखता है, उसीमें प्रसन्न होता है, वही मनःस्थिति एक साधककी होनी चाहिये। मन को विविध विषयोंसे हटाकर परमात्मामें नियोजित करनेकी चेष्टा साधककी एक मनोहर रुचिकर स्पृहा है। फुटबालके एक दक्ष खिलाड़ीको गेंद इधर-उधरसे हटाकर गोलमें डालनेमें जो प्रसन्नता होती है उससे कहीं अधिक प्रसन्नता साधकको मनको विषयोंसे हटाकर परमात्माके चिन्तनमें लगानेमें मिलती है।

हमारे तुम्हारे ऐसे साधारण साधक भी कुछ महीनोंके अभ्याससे उस आनन्दकी एक झलक पा सकते हैं। जिसे गुड़ मीठा नहीं लगता उसे पित्तविकार है, जिसे ईश्वर चिन्तनमें मिठास नहीं लगती उसे चित्त-विकार है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।

जिसका मन भली-भाँति शान्त हुआ है, जिसके विकार शान्त हो गए हैं, ऐसा ब्रह्ममय हुआ निष्पाप योगी उत्तम सुख प्राप्त करता है ।

श्रीभगवानने अर्जुनको उपदेश दिया कि सारो कामनाओंको त्याग-कर मनको निष्ठापूर्वक परमात्माके चिन्तनमें लगावें और जहाँ-जहाँ मन भागकर जाय वहाँसे उसे हटाकर ईश्वरके मननमें प्रवृत्त करे। श्रीभगवान-के वचनोंको सुनकर अर्जुनने कहा कि आपने योग-साधनकी जो युक्ति बताई, मनकी चंचलताके कारण उसे अमलमें लाना मैं अत्यन्त कठिन और दुष्कर समझता हूँ।

अर्जुनकी शंका और श्रीभगवानका समाधान गीताजीकी वाणीमें सुनो :—

अर्जुनने कहा—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।।
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

आपने समत्वरूप योगका जो वर्णन किया—मनकी चंचलताके कारण मैं ऐसी स्थितिको प्राप्त करना और उसपर टिके रहना अशक्य मानता हूँ। मन बहुत ही चंचल है। यह बहुत बलवान और हठी है। मुझे लगता है कि इसको वशमें करना वायुको वशमें करनेकी भाँति बहुत ही कठिन है।

श्रीभगवानने कहा—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।

निःसंदेह मन चंचल है और उसका निग्रह करना कठिन है। पर अभ्यास और वैराग्य द्वारा वशमें किया जा सकता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।

मेरा मत है कि जिसका मन अपने वशमें नहीं है उसके लिए योग साधन बड़ा कठिन है; पर जिसका मन वशमें है और जो यत्नवान है वह उपाय द्वारा साध सकता है।

अर्जुनने पूछा,

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।।

जो श्रद्धावान होते हुए भी चंचल मनवाला होनेके कारण, प्रयत्नशील होते हुए भी मनको वशमें नहीं कर पाता और सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता उसकी क्या गति होती है? क्या वह अपने इस जीवन और शाश्वत जीवन दोनोंको गँवा बैठता है ? उन व्यक्तियोंका क्या होता है जो मंद प्रयत्नके कारण योगप्राप्तिके लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते और उनकी मृत्यु हो जाती है ? क्या उनका उतना किया कराया व्यर्थ चला गया ? मेरा यह संशय मिटानेमें आप समर्थ हैं—आप कृपाकर इस शंकाका समाधान कीजिये । आपके सिवाय दूसरा इस संशयको मिटाने वाला नहीं मिल सकता ।

श्रीभगवानने कहा—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

श्रद्धावान साधकका नाश न तो इस लोकमें होता है न परलोकमें। कल्याणमार्गपर चलनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती। मृत्युके बाद पुण्यशाली लोगोंको मिलनेवाले स्थानको पाकर और वहाँ बहुत काल तक रहकर योग-भ्रष्ट मनुष्य पवित्र और साधन सम्पन्न घरमें जन्म लेता है। संसारमें ऐसा जन्म बहुत दुर्लभ है। वहाँ वह उन शुभ संस्कारोंको फिर प्राप्त कर लेता है, जिन्हें उसने अपने पूर्वजन्ममें विकसित्त किया था और पुन: कल्याणमार्गपर आगे बढ़ता हुआ मोक्ष प्राप्तिका प्रयत्न चालू रखता है।

मनुष्यको लक्ष्य तक पहुँचनेके लिए अनेक जन्म लेने पड़ते हैं—परन्तु जो श्रद्धावान है और प्रयत्नशील है वह आगे बढ़ता जाता है। साधक अपने संस्कार, सामर्थ और लगनके अनुसार तीव्र मध्यम या धीमी गत्तिसे आगे बढ़ता है। कल्याणमार्गके पथिकका प्रयत्न नष्ट नहीं होता। जितनी प्रगति वह एक जन्ममें कर लेता है उसके बादके जन्ममें जमापूँजीकी तरह पूर्व संस्कार उसके विकासमें सहायक होते हैं। इस प्रकार यह लम्बी यात्रा मोक्षरूपी लक्ष्य पर पहुँच कर ही समाप्त होती है। गीता-माताका आश्वासन है कि सभी शुभकर्म करनेवाले कल्याणमार्गके पथिक कभी न कभी अपने लक्ष्यको अवश्य प्राप्त करेंगे।

बापूजी कहते हैं—"छठें अध्यायके अनुसार जरा-सी भी की हुई साधना बेकार नहीं जाती, और जहाँसे रह गई हो, वहाँसे दूसरे जन्ममें आगे चलती है। इसी तरह जिसमें कल्याणमार्गकी तरफ मुड़नेकी इच्छा तो जरूर हो, मगर अमल करनेकी शक्ति न हो, उसे ऐसा मौका जरूर मिलेगा, जिससे दूसरे जन्ममें उसकी यह इच्छा दृढ़ हो। इस बारेमें भी मेरे मनमें कोई शंका नहीं है। मगर इसका यह अर्थ न किया जाय कि तब तो हम इस जन्ममें शिथिल रहें, तो भी काम चल जायगा। ऐसी इच्छा इच्छा नहीं है, या वह बौद्धिक है, मगर हार्दिक नहीं है। बौद्धिक-इच्छाके लिए कोई स्थान ही नहीं है। वह मरनेके बाद नहीं रहती; पर जो इच्छा दिलमें पैठ जाती है, उसके पीछे प्रयत्न तो होना ही चाहिये। मगर कई कारणोंसे और शरीरकी कमजोरीसे सम्भव है कि यह इच्छा इस जन्ममें पूरी न हो और इस तरहका अनुभव हमें रोज होता है। इस इच्छाको लेकर जीव देहको छोड़ता है और दूसरे जन्ममें इस जन्मकी उपाधियाँ कम होकर यह इच्छा फलती है या ज्यादा मजबूत तो होती ही है। इस तरह कल्याणकृत लगातार आगे बढ़ता ही रहता है।"

उत्तम पुस्तकें पढ़कर और संत पुरुषोंका जीवनचरित्र सुनकर अच्छा बननेकी इच्छा होती है पर आचरण करना बड़ा कठिन लगता है। तब क्या किया जाय ? बापूजीने जुलाई १९३२ को एक पत्र में लिखा "तुम्हें यदि अपना जीवन गीताके प्रत्येक श्लोकके विरुद्ध दिखाई दे तो उसकी चिन्ता न करना अपितु दृढ़तापूर्वक और धीरजके साथ उन दोषोंको दूर करते जाना, फिर भले ही दोषोंका पहाड़ हो। प्रयत्न करते-करते एक समय ऐसा आयेगा जब सब दोष दूर हो जायेंगे। लेकिन पहाड़ देखकर यदि प्रयत्न करना छोड़ दोगे तो पहाड़ बढ़ता ही चला जायेगा।"

यह प्रेरणाप्रद वचन हमारे और तुम्हारे लिए मनन करने योग्य है क्योंकि हम और तुम दोनों दोषों से भरे हुए हैं, पर नेक बननेकी इच्छा मनमें उठती रहती है। आओ बापूके पवित्र वचनको दुहरावें—

"तुम्हें यदि अपना जीवन गीताके प्रत्येक श्लोकके विरुद्ध दिखाई दे तो उसकी चिन्ता न करना अपितु दृढ़तापूर्वक और धीरजके साथ उन दोषोंको दूर करते जाना, फिर भले ही दोषोंका पहाड़ हो। प्रयत्न करते-करते एक समय ऐसा आयेगा जब सब दोष दूर हो जायेंगे। लेकिन पहाड़ देखकर यदि प्रयत्न करना छोड़ दोगे, तो पहाड़ बढ़ता ही चला जायगा।"

तुम नेक बननेकी अपनी इच्छाको दबोचो मत। नेक बननेकी मनमें उठनेवाली भावना दैवी सम्पदा है। इसे अपने अच्छे आचरण द्वारा विकसित करो—पुष्ट करो। दृढ़तापूर्वक और धीरजके साथ एक-एक दोषको दूर करते जाओ।

बुरी आदतोंको दूर करनेका एक साधन है डायरी लिखना। तुमने क्या अच्छे या बुरे आचरण किये और पुनः बुरे आचरण न करनेका जो निश्चय किया सब संक्षेपमें प्रतिदिन रोजनामचामें लिखो। बापूजी कहते हैं—"अत्यन्त संक्षिप्त डायरी लिखनेकी आदत हमारी अनेक बुरी आदतों को दूर करती है। जो सत्यका आचरण करना चाहता है, उसके लिए तो डायरी चौकीदारका काम देती है"।

मनुष्यकी इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि वे जबरन पापकर्मकी ओर खींच ले जाती हैं। इन्हें कैसे संयममें रखें। अब जरा निःसंकोच वार्ता करें :—

आज रामनवमी है। हजारों लाखों स्त्री-पुरुष आज गंगा-स्नान करने जा रहे हैं। तुम भी अपने मित्रके साथ घाटपर आए हो। बड़ी

चहल-पहल है। सर्वत्र नर-नारी और बच्चे दीख रहे हैं। सहसा तुम्हारी आँखें एक १४-१५ वर्ष की गोरी सुन्दरीपर जा पड़ती हैं। वह अभी-अभी स्नान करके निकली है। तुम आँखें हटा लेते हो। अभी एक मिनट भी नहीं बीता कि आँखें पुनः उसे देखने लगीं। अब तुम हटा नहीं पाते हो—आँखोंने मनको भी उधर ही खींच रखा है। मन कहता है देख लो न जरा सा—क्या रूप हैं, क्या रंग है, कोई देखने तो आए नहीं थे अब दीख रही है तो जरा निहार लें। रामनवमीपर तुम आए थे गंगा-स्नान करके तन और मन पवित्र करने और यहाँ इस विकार में फँस गए। तब क्या करना चाहिए ? आँखोंको तुरन्त नीची कर लो। उन पर लगाम लगा दो—अब आँखोंको किसी तरह उस बहनको नहीं देखने देंगे—बस ऐसा निश्चय करके तुरन्त उस तरफ से मुँह मोड़ लो। मन बड़ा फड़फड़ायेगा पर रोके रहो—नहीं ही देखना है। निश्चय करो कि इन नालायक आँखोंपर नियंत्रण रखेंगे। दूसरी बार जब गंगा-स्नान करने आना हो तो खूब सुबह आओ जब भीड़ नहीं रहती—प्रलोभन कम रहता है तथा आँखें नीची ही रखो।

शोभना बी० ए० में पढ़ती हैं। चित्रकला उसका प्रिय विषय है और उसमें प्रवीण होना इष्ट है। पुस्तकालय में सैकड़ों पुस्तकें हैं। सब चित्रों से भरी हैं। कुछ पुस्तकें बहुत उपयोगी हैं। कुछ पुस्तकें कलाके नामपर अश्लील चित्र देकर चित्तमें क्षोभ उत्पन्न करती हैं। यह जानते हुए भी कि इन अश्लील चित्रवाली पुस्तकोंसे मन अशान्त हो जाता है, शोभना उस प्रलोभनसे अपनेको बचा नहीं पाती है और उन्हीं चित्रोंको देखती और उन्हींका चिन्तन करती है। पुस्तकालयके टेबुलपर वह चार पुस्तकें लेकर बैठती है, उसमें दो अच्छी पुस्तकें हैं तथा दो अश्लील चित्रवाली। कोई परिचित पास आने लगता है तो वह अच्छी पुस्तक उलट-पलट करने लगती है। बाकी समय अश्लील चित्र ही देखती और उसीका वर्णन पढ़ती है। उसकी सहेली सुशीला भी उसका साथ देती है। इन पुस्तकोंके पढ़नेसे—इन चित्रोंके देखने और इन्हींका ध्यान करनेसे शोभना का क्षोभ, उद्वेग और अशान्ति बढ़ती जाती है। पढ़नेमें मन नहीं लगता। भोग चिन्तन होता रहता है। क्या करे शोभना ? चित्रकला छोड़कर कोई दूसरा विषय ले ले ? नहीं, शोभनाको चित्रकला पढ़ना ही चाहिये क्योंकि इसीमें उसकी रुचि है, इसीमें वह निपुणता प्राप्त करेगी। यही उसने अपना स्वधर्म नियत किया है। पर उसे विषय चिन्तन कराने वाली पुस्तकोंको पढ़ना एकदम बन्द कर देना चाहिये। शोभना निश्चय

करे कि वह गन्दी पुस्तकें नहीं देखेगी और अपने इस निश्चयपर कायम रहे । सुशीलासे भी कह दे, उसने निश्चय कर लिया है कि आँखोंको उन पुस्तकोंको नहीं देखने देगी—जिनसे भोगका चिन्तन होता है। बहुत दिनोंसे वह गन्दी पुस्तकें देखती आ रही है इसलिए उसका मन तो उनका चिन्तन कुछ महीनों या कुछ वर्षों भी करता रहेगा । पर इसमें हताश या उदास होनेकी कोई बात नहीं । मन अगर बदमासी करता रहता है तो हताश न हो । शोभना तो हमारे तुम्हारे जैसी साधारण योग्यता वाली लड़की है। महापुरुष भी अनेक वर्षोंके संयम और अभ्यास से ही मनको वशमें कर पानेमें सफल हुए और उन्होंने जीवनकी अन्तिम घड़ी तक सावधानी रखी और अपनेको सत्कार्योंमें लगाए रखा । शोभना को यह निश्चयपूर्वक समझ लेना चाहिये कि कला कलाके लिए नहीं पर कला जीवनके लिए है। कला कलाके लिए ऐसा कह कर जो कलाके नामपर वीभत्स चित्रण करते हैं वे अपने स्वार्थके लिए मनुष्यकी भोग वृत्तिको उभाड़ते हैं ।

वापूजी कहते हैं "जीवन सब कलाओं से अधिक है। मैं तो मानता हूँ कि जिसने उत्तम जीवन जीना जान लिया, वही सच्चा कलाकार है। उत्तम जीवन की पृष्ठभूमिके बिना कला किस प्रकार चित्रितकी जा सकती है। कलाका मूल्य जीवनको उन्नत बनानेमें है"।

सुरेश और रमेश मित्र हैं। साथ पढ़ते, खेलते और घूमते हैं। शहर के एक चौराहेपर खड़े होते हैं एक दैनिक अखबार खरीदने । अखबार वाले के पास अनेक पुस्तकें हैं। अखबारके साथ-साथ एक पुस्तक "काम-कला" खरीद लेते हैं और होस्टल के कमरेमें जाकर पढ़ते हैं। पुस्तकमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धको ललचानेवाली कामोत्तेजक भाषामें लिखा है—चित्र भी दिये हैं। यह सब किया गया है कामकी कला सिखानेके नामपर ।

सुरेश और रमेश दोनों भले युवक इस गन्दी पुस्तकको पढ़कर विकारग्रस्त हो गए हैं। अब तीन चार दिन बाद वे एक दूसरी गन्दी किताब लाते हैं और उसे चावसे पढ़ते हैं। इस प्रकार वे कई गन्दी पुस्तकें पढ़ते हैं और गन्दी हरकतें भी करने लगते हैं। ये दोनों भले युवक जिन्हें इनके माता-पिता ने विद्या अध्ययनके लिए कालेजके होस्टलमें भर्ती किया था विकारके चंगुलमें फँस गए हैं। गन्दे विचार इनका पीछा नहीं छोड़ते हैं। गन्दी पुस्तकोंके अश्लील चित्र इनकी आँखोंके आगे छाये

रहते हैं। उनकी पढ़ाई चौपट हो रही है। वे जान गए हैं कि ये गन्दी पुस्तकें उनको पापके गड्ढेमें ढकेल रही हैं, पर जानकर भी वे उनको छोड़ नहीं पाते।

दोनों भले युवक अब क्या करें ? उन्हें चाहिये कि वे पापकर्ममें प्रवृत्त करनेवाली उन पुस्तकोंको आज ही जला दें और फिर ऐसी पुस्तकें कभी नहीं पढ़ेंगे ऐसा निश्चय करके डायरीमें लिख लें। बड़ी गलती हो गयी जब उन्होंने पहले दिन एक गन्दी किताब पढ़ी। कोई काम करके छोड़ देनेसे उसे बिल्कुल ही न करना आसान होता है। कितना अच्छा होता कि पहले दिन वे गन्दी पुस्तक न उठाते और उस रसको चखनेकी इच्छा न करते जो उन्हें विवाहके बाद चखना चाहिये। विवाहके बाद भी स्त्री-पुरुष सम्बन्धकी सुरुचिपूर्ण पुस्तक ही पढ़नी चाहिये। पर अब तो जो कचरा उन्होंने मनमें भर लिया है उसे निकालनेमें समय लगेगा ही। धैर्य-पूर्वक उन्हें इस स्थितिसे निपटना होगा। मन विकारका चिन्तन करता रहेगा—उसे जबरदस्ती विकार चिन्तनसे रोकनेसे रुकेगा नहीं। उसे उत्तम साहित्यमें लगावे। रामचरितमानसमें उसे उलझा दे। आँखोंसे अब गन्दी पुस्तकें कभी न देखें और मनको भले कर्मोंमें निरन्तर लगाए रखें। यदि फिर भी मन उन्हीं गन्दे विषयोंका चिन्तन करता जाय तो हताश न हो। बुरे विचारोंसे लड़ाई करनी है—युद्ध करना है और काम-रूपी जल्दी न पराजित होनेवाले दुष्टको मार डालना है। गीताजीकी इन्हीं दुष्टों से दुश्मनी है। गीता माता कुविचारोंको, वासनाको शत्रु कहती हैं। तीसरे अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तुमने पढ़ा ही है "जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्"। हे अर्जुन, हे महाबाहो, हे सुरेश, हे रमेश तू कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल। तुम्हीं अर्जुन हो जिसे मन बुद्धिको मलिन करनेवाले कामरूप शत्रुको मार डालनेकी प्रेरणा गीता देती है। श्री रामचरितमानस, गीता माता, कुरानशरीफ या पवित्र बाइबिल तथा अन्य अच्छी पुस्तकें, सतसंग या निष्कामकर्म वह धर्मक्षेत्र है, जिसमें खड़े होकर तुम कामरूपी शत्रुको मार डालनेकी क्षमता प्राप्त करते हो।

मैं तुमसे कह तो गया पर करना है बड़ा कठिन। हाँ बड़ा कठिन है इसे आचरणमें लाना। पर जो आचरणमें ला रहे हैं जाकर उनके चेहरे-पर खेलनेवाली मुस्कानको देखो। कैसी शान्ति है उनके आसपास, कैसा आनन्दमय जीवन है उनका ? क्या उन्हें देखकर तुम्हारे मनमें उस आनन्दको पानेकी अभिलाषा नहीं होती ? अच्छा तुम्हीं बताओ हिन्दी,

अंग्रेजी, इतिहास, भूगोल तथा विज्ञानका अध्ययन करनेमें तुमने कितना परिश्रम किया है। कौन चीज तुमने बिना प्रयत्नके—बिना श्रमके प्राप्त की है ? इसके लिए तप तो करना ही पड़ेगा।

एक भाई ने बापूजी को पत्र लिखा—

"मेरी स्थिति दयाजनक है। दफ्तरमें, रास्तेमें, रातमें, पढ़ते समय, काम करते समय और ईश्वरका नाम लेते समय भी वही विकारी विचार आते हैं। मैं मनके इन विचारोंको किस तरह वशमें रखूँ। मुझमें स्त्री-मात्रके प्रति मातृ-भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है ? मेरे दुष्ट विचार किस प्रकार निर्मल हो सकते हैं ?

बापूजीने इस पत्रके उत्तरमें मई १९२४ को लिखा—

"यह स्थिति हृदय-द्रावक है। बहुतोंकी ऐसी स्थिति होती है। परन्तु जब-तक मन ऐसे विचारों से लड़ता है, तबतक भय करनेका कोई कारण नहीं है। आँखें बुरा काम करती हों तो उनको बन्द कर लेना चाहिये। कान बुरी बात सुनते हों तो उन्हें रुई से भर लेना चाहिये। आँखोंको हमेशा नीचा रखकर ही चलनेकी रीति अच्छी है। इससे उन्हें दूसरी बातें देखनेका अवसर ही नहीं मिलता। जहाँ गन्दी बातें होती हों अथवा गन्दे गाने गाये जाते हों वहाँसे उठ जाना चाहिये। स्वादेन्द्रिय पर पूरी तरह नियन्त्रण रखना चाहिये।

मेरा अनुभव तो ऐसा है कि जिसने स्वादको नहीं जीता वह विषयोंको नहीं जीत सकता। स्वादको जीतना बहुत कठिन है। इस विजयके साथ ही दूसरी विजय सम्भव बन जाती है। स्वादको जीतनेके लिए एक नियम तो यह है कि मसालोंका सर्वथा अथवा जितना हो सके उतना त्याग किया जाये। दूसरा नियम जो इससे भी अधिक जबर्दस्त है, यह है कि हमें भोजन स्वादके लिए नहीं बल्कि केवल शरीर-रक्षाके लिए ही करना चाहिए। हम इस भावना का पोषण सदा करते रहें। हम अपने फेफड़ोंमें हवा स्वादके लिए नहीं, बल्कि श्वासके लिए भरते हैं और हम पानी प्यास बुझानेके लिए पीते हैं। इसी प्रकार हमें भोजन केवल भूख मिटानेके लिए ही करना चाहिये। दुर्भाग्यवश हमारे माँ-बाप हमें बचपनसे ही उलटी आदत डाल देते हैं। वे हमें शरीरके पोषणके लिए नहीं बल्कि अपना लाड़-दुलार दिखानेके लिए तरह-तरहके स्वाद सिखाकर हमारी आदतें बिगाड़ते हैं। हमें ऐसे वातावरणके विरुद्ध लड़नेकी आवश्यकता है।

लेकिन विषयोंको जीतनेका स्वर्ण-नियम तो रामनामका अथवा ऐसे ही किसी दूसरे मन्त्रका जप करना है। हमें अपनी-अपनी भावना के अनुसार मन्त्र-

का जप करना चाहिए। मुझे बचपनसे रामनाम सिखाया गया था; उसका सहारा मुझे बराबर मिलता रहता है। इसलिए मैंने वही रामनाम सुझाया है। हम जो भी मन्त्र जपें उसमें तल्लीन हो जाना चाहिये। यदि मन्त्र जपते समय दूसरे विचार आयें तो कोई चिन्ता नहीं। फिर भी यदि हम श्रद्धा रखकर मन्त्रका जप करते रहेंगे तो अन्तमें सफलता अवश्य प्राप्त करेंगे। मुझे इसमें रत्तीभर भी शक नहीं है। यह मन्त्र मनुष्यकी जीवन-डोर बनेगा और उसे सारे संकटोंसे बचायेगा। किसीको भी ऐसे पवित्र मन्त्रोंका उपयोग आर्थिक लाभके लिए हरगिज नहीं करना चाहिये। इस मन्त्रका चमत्कार हमारी नीतिको सुरक्षित रखनेमें है और यह अनुभव प्रत्येक साधकको थोड़े समयमें ही मिल जायगा; हाँ, हमें इतना याद रखना चाहिये कि कोई भी इस मन्त्रको तोतेकी तरह न रटे। उसमें हमें अपनी सारी आत्मा लगा देनी चाहिए।"

सन् १९२५ में श्रीघनश्यामदास बिड़लाको लिखा बापूजीके पत्रका अंश हम सब दुर्बल साधकोंको दृढ़ भरोसा दिलाता है।

बापूजी लिखते हैं "विकारोंका वश करना मेरे अनुभवमें बहोत ही कठिन तो है हि, परन्तु वही हमारा कर्तव्य है। इस कलिकालमें मैं रामनामको बड़ी वस्तु समझता हूं। मेरे अनुभवमें ऐसे मित्र हैं जिनको रामनामसे बड़ी शान्ति मिली है। रामनामका अर्थ ईश्वर नाम है। निर्विकार बनना शक्य है इसमें मुझे कोई शक नहीं। प्रातःकालमें उठते ही रामनाम लेना और रामसे कहना 'मुझे निर्विकारकर' मनुष्यको अवश्य निर्विकार करता है। किसीको आज किसीको कल। शर्त यह है कि यह प्रार्थना हार्दिक होनी चाहिये। बात यह है कि प्रतिक्षण हमारे स्मरणमें हमारी आँखोंके सामने ईश्वरकी अमूर्त मूर्ति खड़ी होनी चाहिये। अभ्याससे इस बातका होना सहल है।"

श्रीभगवानने कहा

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्‌ ॥

लगनसे प्रयत्न करता हुआ योगी पापसे छूटकर अनेक जन्मोंसे विशुद्ध होता हुआ परमगतिको पाता है।

मनुष्यसे ही आत्मदर्शनका प्रयत्न हो सकता है। इसलिए गोस्वामी तुलसीदासने मनुष्य शरीरको 'साधन धाम मोच्छकर द्वारा' कहा है।

■

सातवाँ अध्याय

इस अध्यायके कुछ श्लोक सुनो—

श्रीभगवानने कहा—

> मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
> असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।।
> ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
> यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।

मुझमें चित्त लगाकर और मेरा ही आश्रय लेकर कर्मयोगका आचरण करते हुए तुझे जिस प्रकारसे मेरा संशय विहीन ज्ञान होगा, उसे सुन । विज्ञान समेत इस ज्ञानको मैं तुझसे सम्पूर्णतया कहूँगा कि जिसके जान लेनेसे इस लोकमें फिर और कुछ भी जाननेके लिए शेष नहीं रहता ।

> मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
> मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।

मुझसे परे कुछ भी नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत मुझमें उसी प्रकार पिरोया हुआ है जैसे कि मणियां धागेमें पिरोई रहती हैं ।

> रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
> प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।।
>
> पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
> जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।।

जलमें रस मैं हूँ, सूर्य-चन्द्रमें तेज मैं हूँ, सब वेदोंमें ओंकार मैं हूँ, आकाशमें शब्द मैं हूँ और पुरुषोंका पराक्रम मैं हूँ । पृथ्वीमें सुगंध मैं हूँ, अग्निमें तेज मैं हूँ, प्राणिमात्रका जीवन मैं हूँ, तपस्वीका तप मैं हूँ ।

> दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
> मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

मेरी तीन गुणोंवाली दैवी मायाका तरना—मायाको जीत पाना कठिन है। पर जो मेरी ही शरण लेते हैं वे इस मायाको तर जाते हैं।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

बहुत जन्मोंके अन्तमें यह अनुभव हो जानेपर कि जो कुछ है वासुदेवमय ही है, ज्ञानी मुझे पाता है। ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है।

ईश्वरकी त्रिगुणमयी माया बड़ी प्रबल है। सत् रज और तम इन गुणोंसे उत्पन्न होने वाले गुण-दोषसे मोहित हुए मनुष्य अविनाशी ईश्वरको नहीं पहचान पाते। माया क्या है और कैसे मनुष्यको मोहमें डालकर विवेकहीन कर देती है? तुलसीदासजीने मायाके स्वरूपका और उसके परिवारका यथार्थ चित्रण किया है। वे कहते हैं—

मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही ॥
तृस्नाँ केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहि दाहा ॥

ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहिं संसार ॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नैन सर को अस लाग न जाहि ॥

गुन कृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही ॥
जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा ॥
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा ॥
चिंता सांपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया ॥
कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा ॥
सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा ॥

किस-किसको मोहने अंधा नहीं किया? जगतमें ऐसा कौन है जिसे कामने न नचाया हो? तृष्णाने किसको मतवाला नहीं बनाया? क्रोधने किसका हृदय नहीं जलाया?

इस संसारमें ऐसा कौन ज्ञानी, तपस्वी, शूरवीर, कवि, विद्वान और गुणी है जिसको लोभने त्रस्त न किया हो? लक्ष्मीके मदने किसको टेढ़ा और प्रभुताने किसको बहरा नहीं कर दिया? ऐसा कौन है जिसे मृगनयनी (युवती स्त्री) के नेत्र-बाण न लगे हों?

सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंका किया हुआ सन्निपात किसे नहीं हुआ ? ऐसा कोई नहीं है जिसे मान और मदने अछूता छोड़ा हो। यौवनके ज्वरने किसे आपेसे बाहर नहीं किया ? ममताने किसके यशका नाश नहीं किया ?

डाहने किसको कलंक नहीं लगाया ? शोकरूपी पवनने किसे नहीं हिला दिया ? चिन्तारूपी साँपिनने किसे नहीं खा लिया ? जगतमें ऐसा कौन है जिसे माया न व्यापी हो ?

मनोरथ कीड़ा है, शरीर लकड़ी है। ऐसा धैर्यवान कौन है, जिसके शरीरमें यह कीड़ा न लगा हो ? पुत्रकी, धनकी और लोकप्रतिष्ठाकी- इन तीन प्रबल इच्छाओंने किसकी बुद्धिको मलिन नहीं कर दिया ? यह सब मायाका बड़ा बलवान परिवार है। इसका वर्णन कौन कर सकता है ?

मायाका ऐसा भरापूरा और शक्तिशाली परिवार है और इस परिवारका प्रत्येक सदस्य अवसर पाने पर मनुष्यको सताया करता है। इस मायासे कैसे त्राण पाया जाय ? ईश्वरकी भक्तिसे—उसकी शरण जाकरही इस मायाको लाँघा जा सकता है।

हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिय राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं॥

ईश्वरकी मायाके द्वारा रचे हुए दोष और गुण ईश्वरके भजनके बिना नहीं जाते। मनमें ऐसा विचार कर सब कामनाओंको छोड़कर श्रीरामका भजन—रामकी भक्ति करनी चाहिये।

भक्ति तभी होगी जब विश्वास होगा। विश्वास तभी होगा जब ईश्वरके प्रभाव, स्वरूप और महिमाकी जानकारी हो जाय।

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।
प्रीति बिना नहि भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

प्रभुता जाने बिना विश्वास नहीं जमता; विश्वासके बिना प्रीति नहीं होती और प्रीति बिना भक्ति दृढ़ नहीं होती जैसे जलकी चिकनाई ठहरती नहीं।

श्रीरामचरितमानसके किष्किन्धाकाण्डमें एक कथा आती है। हनुमानजीने राम और सुग्रीवकी मित्रता करा दी। पर सुग्रीवको विश्वास नहीं जमता था कि मृदुल मनोहर अतीव सुन्दर श्रीराम महाबली बालि-

को मार सकेंगे। सुग्रीवने अपना दुःख दर्द सुनाया। रामने कहा 'मेरे बलपर तुम चिन्ता छोड़ दो—मैं सब प्रकारसे तुम्हारी सहायता करूँगा। सुग्रीवने कहा कि बालि अत्यन्त बलवान है और यह कहते हुए उसने दुन्दुभि राक्षसकी हड्डियाँ और तालके वृक्ष दिखलाए। श्रीरामने उन्हें आसानीसे ढहा दिया। रामका अपरिमित बल देखकर सुग्रीवको विश्वास हो गया कि राम बालि का बध करनेमें समर्थ हैं। सुग्रीवकी प्रीति बढ़ गयी। वे बार-बार रामके चरणोंमें सिर नवाने लगे। प्रभुको पहचान कर सुग्रीव मनमें हर्षित हो रहे थे।

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। बालि महाबल अति रनधीरा॥
दुंदुभि अस्थि ताल देखराए। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए॥
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती॥
बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥

हनुमानजीने मैत्री करादी थी पर सुग्रीवको भरोसा—विश्वास—तभी हुआ जब उसने श्रीरामके अतुलित बलकी एक झलक पायी।

मनुष्य ईश्वरकी प्रभुता, वैभव व दयालुताको जान जाय तभी उसे ईश्वरकी दृढ़ भक्ति होगी। इसी विचारसे श्रीभगवान ईश्वरके प्रभाव, स्वरूप एवं व्यापकताका सरस वर्णन करते हैं—

ईश्वर ही सम्पूर्ण जगतकी उत्पत्ति और लयका कारण है। ईश्वरसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है। धागेमें पिरोयी हुई मणियोंके समान यह सारा विश्व ईश्वरमें गुंथा हुआ है। सर्वत्र प्रभु ही व्याप्त है। उससे परे कुछ भी नहीं है। जलमें रस, सूर्य-चन्द्रमें प्रकाश, वेदोंमें ओंकार, आकाश-में शब्द, अग्निमें तेज, प्राणिमात्रमें जीवन भी ईश्वर ही है। जो-जो सात्विक, राजसी या तामसी भाव हैं सब ईश्वरसे उत्पन्न हुए हैं। सर्वत्र उसी एककी सत्ता है—उसीका प्रभाव है।

ऐसा जानकर एक ईश्वर पर ही भरोसा रखना चाहिये—उसीकी भक्ति करनी चाहिये।

श्रीभगवानने हृदयग्राही शब्दोंमें ईश्वरकी महिमा बतायी। फिर भी क्या हम ईश्वर पर अनन्य श्रद्धा और अचल विश्वास टिका सकेंगे? साधन करते जाना है। बारंबार इस भावनाको दृढ़ करना है कि एक

ईश्वरकी ही सत्ता है। अनेक जन्मोंके साधनके बादही मनुष्य यह ज्ञान पाता है कि सब कुछ वासुदेवमय ही है—सब कुछ ईश्वर ही है। वासुदेवः सर्वम्—ईशावास्यमिदं सर्वम्।

परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है, यह कहना सरल है पर उसे सर्वत्र व्याप्त पहचान लेना बहुत कठिन है। ईश्वर दुर्लभ नहीं क्योंकि वह तो सर्वत्र व्याप्त है। ईश्वरका सर्वत्र दर्शन करने वाला—अनुभव करने वाला—महात्मा सुदुर्लभ है।

■

आठवाँ अध्याय

इस अध्यायके केवल छ श्लोक तुम्हें सुनाऊँगा।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

अन्तकालमें मुझे ही स्मरण करते हुए जो देह त्याग करता है वह मेरे स्वरूपको पाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

नित्य जिस-जिस स्वरूपका ध्यान मनुष्य धरता है, उस-उस स्वरूपको अंतकालमें स्मरण करता हुआ वह देह छोड़ता हैं और इससे वह उस-उस स्वरूपको पाता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

इसलिए सदा मुझे स्मरण करता हुआ युद्ध करता रह, इस प्रकार मुझमें मन और बुद्धि रखनेसे अवश्य मुझे पावेगा।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

चित्तको दूसरी ओर न जाने देकर अभ्यासकी सहायतासे उसको स्थिर करके दिव्य परम पुरुषका ध्यान करते हुए मनुष्य उसी पुरुषमें जा मिलता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

चित्तको अन्यत्र कहीं लगाये बिना जो नित्य और निरंतर मेरा ही स्मरण करता है वह नित्ययुक्त योगी मुझे सहजमें पाता है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

जिसके अन्तर्गत समस्त प्राणी हैं और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है उस परमपुरुषके दर्शन अनन्य भक्तिसे ही होते हैं।

श्रीभगवानने कहा कि अन्तकालमें ईश्वरका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़नेवाले स्त्री-पुरुष परमपदको पाते हैं। पर मरणकालमें ईश्वरका स्मरण तभी हो सकेगा जब हम जीवनभर उसका स्मरण करते रहें। मनुष्यका मन जिन भावों या पदार्थोंका चिन्तन करता रहता है उन्हीं-के संस्कार उसके चित्तपर अंकित हो जाते हैं और मृत्युके समय उन्हीं भावों या पदार्थोंकी याद आती है। मनुष्य जैसा चिन्तन करता है वैसा ही हो जाता है। मरते समय मन उन्हीं विषयोंका चिन्तन करता है, जिनका अभ्यास जीवनकालमें अधिक किया है। यदि जीवनमें लोगोंको ठगा है, दुःख दिया है और अहित किया है तो मृत्युके समय बुराईके विचार ही छाये रहेंगे। यदि सेवा और परोपकारमें जीवन व्यतीत किया है तो अच्छे विचार ही आते रहेंगे। अन्त समयमें ईश्वर स्मरण करनेकी इच्छा रखनेवालेको जीवनके सर्वकालमें ईश्वरका स्मरण करते रहना चाहिये। प्रतिदिन या दीर्घकाल तककी गयी क्रियाओंके संस्कार मनपर गहरे हो जाते हैं और वे ही अन्तकालमें उभर पड़ते हैं।

ईश्वरका स्मरण करते रहना माने बैठकर माला जपना या सुबहसे शाम तक कीर्तन करना नहीं है। मुखसे राम, हाथसे काम। ईश्वरका चिन्तन और ईश्वरका काम। समाजमें एक वर्ग ऐसा बन बैठा जो केवल माला फेरने और जप-पूजा करने लगा। श्रम छोड़ बैठा। दूसरा वर्ग श्रम करने लगा और जप छोड़ बैठा। नाम जपनेवाला मान लेता है कि श्रम करनेकी आवश्यकता नहीं है। श्रम करनेवाला मान लेता है कि नाम जपनेकी फ़ुर्सत नहीं मिलती। पूजा-पाठ और जप करनेवालेको श्रम करना उतना ही आवश्यक है जितना शारीरिक श्रम करनेवालेको ईश्वर स्मरण आवश्यक है। नाम-स्मरण पेट पालनेका साधन नहीं, यह तो चित्तके मलको धोनेका साधन है।

श्रीभगवान कहते हैं

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

निरन्तर मेरा चिन्तनकर और युद्ध भी कर।

गीतामें युद्ध करता रह कहनेका मतलब है, काम-क्रोध-लोभादि विकारोंसे लड़ता रह और अपने स्वधर्ममें लगा रह। जो काम-क्रोध आदि विकारोंसे लड़ता रहेगा वही स्वधर्म पालनमें समर्थ हो सकेगा। यदि यह

कहा जाय कि सत्यका पालन करो और असत्य, चोरी, और राग-द्वेष आदि दुर्गुणोंसे लड़ते रहो तो यह एक ही बात हुई। जो असत्य, चोरी और राग-द्वेष आदि दुर्गुणोंके वशीभूत नहीं होगा, वही सत्यका पालन कर सकेगा।

कोई भी भौतिक युद्ध सर्वकाल नहीं चलता। महाभारतका युद्ध तो केवल अठारह दिन चला। आधुनिककालके प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध भी कुछ ही साल चले। मानव-हृदयमें सत् और असत्के बीच चलने वाला युद्ध निरन्तर चलनेवाला है। गीता इसी युद्धको सतत करते रहने और काम-क्रोध-लोभ आदि विकारोंको जीतनेका उपदेश देती है। आध्यात्मिक सत्यको हृदयमें बैठानेके लिए गीता भौतिक युद्धकी उपमाका आश्रय लेती है।

मामनुस्मर युध्य च।

भक्ति और कर्मका बड़ा सुन्दर समन्वय है। रामका चिन्तन और रामका काम। मनमें रामका नाम शरीर द्वारा सेवा। विचार साधना और श्रम साधना। न केवल स्मरण न केवल कर्म। दोनों साथ चलेंगे तभी बनेगा। भक्ति और कर्मका योग। हृदयसे ईश्वर स्मरण, कर्मेन्द्रियों-से स्वधर्माचरण।

गीताको यह मत मान्य नहीं है कि मोक्ष प्राप्तिके लिए अन्तमें कर्मों-का सर्वथा त्याग आवश्यक है। मोक्षप्राप्तिके लिए कर्मोंका त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, कर्मकी आसक्तिका त्याग करनेकी आवश्यकता है। निष्काम कर्म करते रहना चाहिये। यज्ञ, दान, और तप मनुष्यको पवित्र करनेवाले हैं। तन और मन दोनोंको पवित्र करनेकी बंदिश है। हरिनामसे मन पवित्र करो और घट-घटमें रहनेवाले हरिकी सेवासे तन पवित्र करो।

ज्ञानियोंमें अग्रगण्य हनुमानजीमें भक्ति और कर्मका अनुपम समन्वय है। हनुमानजी 'प्रभु चरित्र सुनिबेको रसिया' हैं और साथ ही 'रामकाज करिबेको आतुर' हैं। हनुमानजीका जीवनचरित्र उपासना और कर्म, जप और श्रम, स्मरण और सेवाका अनूठा उदाहरण है। श्रीहनुमानने गीताके उपदेश 'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' को जीवनमें प्रत्यक्ष करके दिखाया है। जो हनुमान प्रभुचरित्र सुनिबेको रसिया हैं वे ही हर क्षण रामकाज करिबेको आतुर हैं।

गीता-प्रवचनमें विनोबा कहते हैं

"पवित्र संस्कार डालनेके लिए उदात्त विचार मनमें दौड़ाते रखने चाहिए। हाथ पवित्र कर्म करनेमें लगे रहें। भीतरसे ईश्वरका स्मरण व बाहरसे स्वधर्माचरण। ऐसा नित्य करते रहना चाहिये।

डाक्टरने रोज दवा पीनेके लिए कहा, पर हम सारी दवा एक ही रोज पी लें तो ? तो वह वेतुकी बात हो जायगी। औषधिका उद्देश्य उससे सफल न होगा। रोज-व-रोज दवाका संस्कार पड़कर प्रकृतिकी विकृति दूर करनी चाहिये। ऐसी बात जीवनकी है। शंकर पर धीरे-धीरे ही अभिषेक करना पड़ता है। मेरा यह प्रिय दृष्टान्त है। बचपनमें मैं नित्य इस क्रियाको देखता था। चौबीस घण्टे मिलाकर बहुत हुआ तो वह पानी दो वाल्टी होता होगा। फिर एक साथ दो वाल्टी शिवजी पर एकदम क्यों न उडेल दी जाय ? इसका उत्तर बचपनमें ही मुझे मिल गया। पानी एकदम उंडेल देनेसे वह कर्म सफल नहीं हो सकता एक-एक बूंद-धारा सतत पड़ना ही उपासना है। समान संस्कारोंकी सतत धारा लगनी चाहिये। जो संस्कार सुबह, वही दोपहरको, वही शामको, वही दिनमें, वही रातमें, वही कल, वही आज व जो आज वही कल, जो इस साल वही अगले साल, जो इस जन्ममें वही अगले जन्ममें, जो जीवनमें वही अन्तकालमें- ऐसी एक-एक सत्संस्कारकी दिव्यधारा सारे जीवनमें सतत बहती रहनी चाहिये। ऐसा प्रवाह अखंड चालू रहेगा तो ही हम अन्तमें जीत सकेंगे।"

जीवनमें शुभ संस्कारोंकी सतत आवृत्ति होनेसे अपार लाभ होता है। बचपन या युवावस्थामें ही शुभ संस्कारोंका अभ्यास चालू हो जाय तो लक्ष्यकी प्राप्ति सरल हो जाय।

तुमने यह भजन तो सुना ही है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥

कृष्ण प्रेमकी दीवानी मीराके बचपनकी एक घटना इस प्रकार कही जाती है :—

छ-सात वर्षकी बालिका मीराने एकदिन अपने महलकी खिड़कीसे देखा शहनाई बजाते हुए कुछ लोग और उनके पीछे सजे-धजे पगड़ी पहने लोगोंकी भीड़में घिरा और सुन्दर सफेद घोड़े पर बैठा एक लड़का जा है। लड़का सेहरोंसे ढका, सुन्दर और चमकते कपड़े पहने था। मीराने अपनी माँसे पूछा यह क्या है ? माँने बताया—बारात। यह लड़का विवाह

करने जा रहा है जब विवाह होता है तो कन्या अपने पतिके साथ रहने चली जाती है, जैसे तुम्हारे पिताजीके साथ मैं रह रही हूँ। मीराने कहा 'मैं भी तो कन्या हूँ'।

"हाँ तुम भी कन्या हो"

"तो मेरा पति कौन है" ?

माँके पास कृष्णकी एक छोटी-सी सुन्दर मूर्ति थी। भव्य परिधान पहने, मोर मुकुट लगाए और हाथोंमें मुरली लिए कृष्ण कन्हैया।

"यही है तुम्हारा पति" माँने मूर्तिकी तरफ इशारा करके सहज भावसे कह दिया। मीरा निहारने लगी उस सुन्दर मूर्तिको। मेरा पति यही है—मुझे इसीके साथ रहना है। बालिका मीराके मनमें यह बात घर कर गयी। सुबहसे शाम तक उसी मूर्तिको सजाने-सवारने और उसी के पास खेलने खाने लगी मीरा। मोरमुकुटवाला आँखोंके रास्ते उसके दिलमें जाकर बस गया।

मीरा गिरधरगोपालके पास ही रहने लगी—उसीमें मगन। जो संस्कार सुबह, वही दोपहरको, वही शामको, वही दिनमें, वही रातमें, वही कल, वही आज, जो इस साल वही अगले साल, इस प्रकार सतत नंदलालका ही ध्यान, उसीका काम, उसीकी लगन, उसीमें मगन।

इसी सतत ध्यान और लगनने मीराको कृष्णके प्रेममें रंग दिया और मीराने गाया—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥

मीराकी आँखें हरिदर्शनकी प्यासी रहने लगीं। मीरा अपने प्रीतमके सामने नाचने लगी "पग घुंघरु बाँध मीरा नाची रे"। कृष्ण उसके जीवन आधार हो गए।

हरि मोरे जीवन प्राण अधार।
और आसरो नाहीं तुम बिन तीनों लोक मंझार॥
आप बिना मोहि कछु न सुहावै निरख्यौ सब संसार।
मीरा कहै मैं दास रावरी दीज्यो मती विसार॥

तुम कहोगे मीराके पूर्वजन्मके संस्कार थे—उसकी पूर्वजन्मकी कमाई थी—इसलिए उसने इस जन्ममें रामरतन धन इतनी सहजतासे प्राप्त कर लिया और गाया—

पायो जी मैंने राम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु, किरपा कर अपनायो॥
जनम जनम की पूँजी पायी, जगमें सभी खोवायो।
खरचै न खूटै, बाको चोर न लूटै, दिन-दिन बढ़त सवायो॥
सतकी नाव, खेवटिया सतगुरु, भवसागर तर आयो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, हरख हरख जस गायो॥

हमने और तुमने पूर्व जन्ममें कमाई नहींकी तो क्या हम दोनों इस जन्ममें भी कंगाल बने रहेंगे ? हम और तुम इस जन्ममें मेहनत करेंगे—आगे बढेंगे। कमाई करेंगे जिससे इस कमाईके बल पर हमारे पास अगले जन्ममें कुछ तो पूंजी रहे।

उपनिषद कहता है "उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत। उठो, जाग जाओ, आचार्योंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो।

गीताजी कहती हैं "क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप"

स्वामी विवेकानन्दको गीताका यह श्लोक बहुत प्रभावित करता था। वे उठ खड़े हुए और अपने चालीस वर्षके अल्प जीवनमें उन्होंने धर्म प्रचार, जन-जागृति और मानव सेवाके असाधारण कार्य किए।

हर समय मनमें उच्च विचार—प्रेम और करुणाके विचार बनाए रखना चाहिये, यह कहना तो सरल है पर आचरणमें लाना कठिन हो जाता है। कोई गालीदे, अपमान करे, धोखा दे, दुःख पहुँचावे तब उसके प्रति प्रेम और करुणाके विचार कैसे रखे जाँय ? इस प्रश्नका उत्तर श्री-हनुमानप्रसादपोद्दारने इन शब्दोंमें दिया है—

"मनुष्यके मनमें जिस तरहका चिन्तन चलता रहता है, वह सदा उन्हीं बातोंसे घिरा रहता है और अन्तमें उन्हींको प्राप्त करता है। अतएव अशुभ-चिन्तन मनुष्यको कभी नहीं करना चाहिये। अशुभ-चिन्तन करना अपनी आत्म-शक्तिका दुरुपयोग करना है और भय तथा विपत्तियोंको पुकार-पुकारकर बुलाना है। अपने मनमें किसीके प्रति जरा-सा भी द्वेष या हिंसाका भाव नहीं होना चाहिये; इसमें अपना ही लाभ है, किसीपर अहसान नहीं। जो शत्रुको भी प्यारकी नजरोंसे देखता है, जिसके हृदयमें शत्रुके लिए भी शुभ-चिन्तनकी सम्पत्ति है, वह भगवानको बड़ा प्यारा है और वही आनन्दमें है। उसके हृदयमें जलन नहीं होती—सदा शान्ति विराजती रहती है। वास्तवमें अपना कोई शत्रु है भी नहीं, हमारी कल्पना ही हमारे लिए शत्रु उत्पन्न कर लेती है। हमें जो दुःख

मिलते हैं, वे अपने पहले किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप मिलते हैं। यदि किसीके द्वारा दुःख मिलता है तो वह प्रारब्धमात्र है। वह तो उसमें निमित्तमात्र बना है, वास्तवमें वह हमें दुःख देनेवाला नहीं है। दुःख देनेवाले हम स्वयं हैं, जो पहले दुःखोंके कारणरूपमें वैसे कर्म कर चुके हैं।"

विकार और वासनाएँ ही मनुष्यकी शत्रु हैं। कोई देहधारी चाहे वह बुरा हो या भला गीताभक्तका शत्रु नहीं है। गीताकी शिक्षाके अनुसार आचरण करनेवालेको सर्वभूतसे—प्राणीमात्रसे निर्वैर होकर रहना है और ईश्वर स्मरण करते हुए सदाचारमें रत रहना है।

■

नवां अध्याय

इस अध्यायके कुछ श्लोक सुना रहा हूँ। किस अध्यायमें कितने श्लोक हैं यह तो मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ। किसी अध्यायमेंसे कुछ श्लोक सुनानेका यह मतलब नहीं कि बाकी श्लोक कम महत्वपूर्ण हैं। श्रीभगवान्के एक-एक शब्द अमृत तुल्य हैं। कुछ श्लोक सुनानेका उद्देश्य यह है कि सभी अध्यायोंसे तुम्हारा प्राथमिक परिचय हो जाय।

श्रीभगवानने कहा—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

जो लोग अनन्य भावसे मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं, उन नित्य मुझमें ही रत रहने वालोंके योग (अप्राप्यकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्यकी रक्षा) का भार मैं उठाता हूँ।

परमात्मा अपने भक्तोंके सारे बोझ और सब चिन्ताओंको स्वयं संभाल लेता है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदऽहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

पत्ती, फूल, फल या जल जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पित करता है उस प्रयत्नशील मनुष्य द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित वस्तुको मैं ग्रहण करता हूँ।

डा० राधाकृष्णनकी टिप्पणी—उपहार कितना ही तुच्छ क्यों न हो, यदि वह प्रेम और सच्चाईके साथ दिया जाता है, तो वह प्रभुको स्वीकार होता है। सर्वोच्च भगवान तक पहुंचनेका मार्ग सूक्ष्म अधिविद्या या जटिल कर्मकाण्डका मार्ग नहीं है। यह तो केवल आत्मसमर्पणका मार्ग है, जिसका प्रतीक पत्ती, फूल, फल या जलका उपहार है। जिस वस्तुकी आवश्यकता है, वह है भक्तिपूर्ण हृदय।

प्रेमसे अर्पित तुच्छ वस्तु भी ईश्वरको प्रिय लगती है। भक्तके प्रेमकी डोरी बड़ी मजबूत है। सूरदासजी इस प्रेमकी छटा अपने एक भजनमें दिखाते हैं—

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधन के मेवा त्यागे, साग विदुर घर खाई॥
जूँठे फल सबरी के खाये, बहुविधि स्वाद बताई।
प्रेम के बस नृप सेवा कीन्हीं, आप बने हरि नाई॥
राजसु-यग्य युधिष्ठिर कीन्हों तामें जूँठ उठाई।
प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गए ठकुराई॥
ऐसी प्रीति बढ़ी बृन्दावन, गोपिन नाच नचाई।
सूर कूर इहि लायक नाहीं, कहँलगि करौं बड़ाई॥

इस प्रेम सगाईमें जात-पांत, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, ब्राह्मण-शूद्रका भेद भाव नहीं है।

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
मानउँ एक भगति कर नाता॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पित कर।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

मैं सब प्राणियोंमें समभावसे रहता हूँ। मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है। भक्तिसे जो मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

भारी दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह मुझे अनन्यभावसे भजता है तो उसे साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और निरंतर शान्ति पाता है। तुम निश्चयपूर्वक समझ लो कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता है।

श्रीभगवानने अर्जुन पर विशेष अनुग्रह करके उसे इस अध्यायमें राजविद्या बताई। यह राजविद्या या राजयोग सरल, उत्तम, प्रत्यक्ष अनुभवमें आने योग्य और आचरण करनेमें सहज है।

यह राजयोग क्या है ? श्रीविनोबा 'गीता प्रवचन' में कहते हैं—

"ईश्वरार्पण-बुद्धिसे प्रत्येक इन्द्रियसे काम लेना यही राजमार्ग है। इसीको राजयोग कहते हैं। जीवनके मामूली कर्म और मामूली क्रियाओंको परमेश्वरके अर्पण करदो तो इससे जीवनमें सामर्थ्य आ जायगा। मोक्ष हाथ लग जायगा। कर्म करके भी उसका फल न छोड़कर उसे ईश्वरके अर्पण करना, यह राजयोग हुआ। यह कर्मयोगसे भी एक कदम आगे जाता है। कर्मयोग कहता है कि कर्म करो, फल छोड़ो। फलकी आशा मत करो। यहाँ कर्मयोग खतम हो गया। राजयोग कहता है कर्मके फलको छोड़ो मत, बल्कि सब कर्म ईश्वरके अर्पण कर दो। एक ओरसे कर्म और दूसरी ओरसे भक्तिका मेल मिलाकर जीवनको सुन्दर बनाते जाओ। त्यागो मत फलोंको। फलोंको फेकना नहीं बल्कि भगवान-से जोड़ देना है।"

नयी दिल्लीमें राष्ट्रपति-भवन पहुंचनेके लिए अनेक पथ हैं। रकाबगंज मार्ग, मोतीलाल नेहरू मार्ग, डा० राजेन्द्रप्रसाद मार्ग, इन सब पर चल कर राष्ट्रपति-भवन पहुंचा जा सकता है। पर सीधा मार्ग तो राजपथ है। इस-उस रास्तेसे चलकर पूछते हुए पहुंचनेसे अच्छा है राजपथपर चलकर सीधे राष्ट्रपति भवन पहुँचो और राष्ट्रपतिजीके दर्शन करो। ऐसे ही सर्वलोक महेश्वर से मिलने जानेका सीधा रास्ता है राजयोग—कर्मयोग और भक्तियोगका मधुर मिश्रण।

कर्मयोग और भक्तियोगका मधुर मिश्रण कैसे होता है दृष्टान्तसे समझनेकी कोशिश करो।

एक गृहस्थ परिवारके व्यापारमें पिता-पुत्र साझीदार हैं। दोनों मिल-कर व्यापार करते हैं और सालके अन्तमें नफा उनके हिस्से मुताबिक उनके खातेमें जमा हो जाता है। दोनों अलग-अलग आयकर देते हैं—तथा अपने हिस्सेके पूर्ण मालिक हैं। बाप-बेटा दोनों प्रतिमास हाथखर्चके लिए कुछ सौ रुपये लेते हैं। पुत्र जितना रुपया लेता है अपने पिताको दे देता है। ऐसे भावसे, ऐसी नम्रतासे देता है जैसे यह रुपया पिताका ही है। उसकी यह स्वाभाविक भावना बनी है कि व्यापारमें जो कुछ रुपया उसके नामसे जमा है वह सब पिताका ही है। पुत्रके मनमें यह अहंभाव कभी नहीं आता कि मैं दुकानका पार्टनर हूँ, मेरा असेसमेन्ट भी अलग

होता है, मैं पूरी मेहनत करता हूँ, तब पिताजीका मेरे हिस्सेकी आमदनी पर क्या हक है? पुत्रने कर्म किया और उसका फल पिताको अर्पितकर दिया। अब पुत्रके योग-क्षेमकी जिम्मेदारी पिता पर आ गई।

भरतको राज्य मिला, उसे उन्होंने श्रीरामको अर्पित कर दिया। माताने, गुरुजीने बहुत समझाया और कहा तुम राजगद्दी पर बैठो। पर भरत कैसे बैठते? वे तो राजगद्दी श्रीरामको अर्पित कर चुके थे। राम वनको चले गए थे। चले मनाने। सत्यपथ पर चलनेवाले राम वापस आनेको राजी नहीं हुए तो विनती करके रामसे पादुका माँग लाए और उसीको सिंहासन पर बैठा दिया। अब पादुकासे आज्ञा मांगकर राज-काज चलाने लगे।

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि-मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥

यह था भरतका अर्पण—यह थी भरतकी प्रीतिकी रीति। उससे भरतके जीवनमें आनन्द भर गया, पवित्रता भर गयी।

परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥

यह अर्पणकी भावना नकल करनेसे नहीं आती, यह तो अन्तःकरणकी प्रेरणा है। ऊपरके पुत्रकी नकल करके कोई पुत्र अपने पिताको अपनी सब आय या वेतन लाकर दे दे तो उतनेसे वह अर्पण नहीं हो जाता। सारा खेल भावनाका है। असली-नकलीका पता चल जाता है।

एक लघु कथा याद आ गयी। राजस्थानकी पुराने समयकी बात है। एक सच्चरित्र राजपूतके दिन कुछ ऐसे फिरे कि उसे कर्ज लेना अनिवार्य हो गया। बड़े संकोचसे वह एक साहूकार के पास कर्जा मांगने गया। साहूकार राजपूतसे परिचित न था। साहूकारने कहा "मैं तुम्हें ऋण देनेको तैयार हूँ, कोई जमानत दे दो।" राजपूतके पास कोई गहना या जमीन थी नहीं, जमानतमें क्या दे? उसे एक उपाय सूझा। उसने कहा मेरी मूँछका एक बाल जमानतके तौर पर रख लीजिए। साहूकार उसकी मर्दानगीसे बड़ा प्रभावित हुआ और उसने मूंछका एक बाल जमानत रखकर कर्जा दे दिया।

एक छिछला मनुष्य यह सब सुन रहा था। दस दिन बाद वह साहूकारके पास आया और कर्जकी माँग की। साहूकारने उससे भी जमानत माँगी। आदमी बोला "मेरे मूँछके जितने चाहे उतने बाल ले

लीजिये, आप कहें तो मूँछ मुड़वा दूँ"। साहूकारने उसे दो मिनट गौरसे देखा—फिर कर्जा देना साफ इनकार कर दिया।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पाप-योनि भी, जो कोई भी मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, वे परमगति पाते हैं।

व्यासदेव प्रतिभावान क्रान्तिकारी महामानव थे। उनके समयमें यज्ञ याग, नाना प्रकारके क्रिया कलाप और कर्मकाण्ड ही धार्मिक जीवनके प्रतीक हो गये थे। ऐसा माना जाने लगा कि तरह-तरहके कर्मकाण्ड करनेवाले और मानव सेवासे मुख मोड़कर नाना प्रकारके शरीरको सुखानेवाले तप करनेवाले ब्राह्मण ही मोक्ष पा सकते हैं। करुणामय व्यासदेवने द्रवित होकर इस धारणा पर कड़ा प्रहार किया और अनेक हृदयग्राही कथा लिखकर यह स्पष्ट किया कि स्त्री, वैश्य और शूद्र भी अपने स्वकर्मको यदि निष्ठा पूर्वक करें तो उनका वह कर्म—चाहे कितना ही तुच्छ हो—यज्ञ हो जाता है। स्त्री, शूद्र सभी स्वकर्मके द्वारा ईश्वरकी पूजाकर मोक्ष पाते हैं।

व्यासने स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि मनुष्यमात्र मोक्षका अधिकारी है और उसका कर्तव्य है कि इस अधिकारको पानेके लिए स्वधर्मका आचरण करे। कर्म यदि शुद्ध भावनासे और सेवा-मय हो तो वह यज्ञ ही है।

महाभारतकी एक प्रसिद्ध कथा है—

कौशिक नामका एक ब्राह्मण था। ब्रह्मचर्य व्रतधारी था। एक दिन वह पेड़की छांहमें बैठा हुआ वेद-पाठ कर रहा था कि इतनेमें उसके सिर पर किसी पक्षीने बीट करदी। कौशिकने ऊपर देखा तो पेड़की डालपर एक बगुला बैठा दिखाई दिया। ब्राह्मणने सोचा, इसी बगुलेकी यह करतूत है। उसे बड़ा क्रोध आया। उसकी क्रोध भरी दृष्टि पड़ते ही बगुला भस्म होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। बगुलेके मृत शरीरको देखकर कौशिकको बड़ा दुःख हुआ कि क्रोधमें आकर मैंने एक निर्दोष पक्षीको मार दिया। इतनेमें भिक्षाका समय हो आया और वह भिक्षाके लिए चल पड़ा।

एक द्वारपर भिक्षाके लिए वह खड़ा हुआ और भिक्षा मांगी। घरकी मालकिन अन्दर बर्तन साफ कर रही थी। उसने उत्तर दिया कि अभी

आती हूँ। कौशिकने सोचा, काम पूरा होनेपर मेरी तरफ ध्यान देगी। किन्तु इतनेमें स्त्रीका पति, जो किसी कामसे बाहर गया हुआ था, लौट आया। आते ही बोला "बड़ी भूख लगी है, खाना परोसो" पतिकी बात सुनते ही गृहिणी कौशिककी परवाह न करके अपने पतिकी सेवामें लग गयी। उसने पतिके पाँव धोये, आसन बिछाया, थाली परोसी और बैठकर पतिको पंखा झलने लगी। वह मन, वाणी और कर्मसे पति-परायणा थी।

कौशिक द्वार पर ही खड़ा रहा। जब उस स्त्रीका पति भोजन कर चुका तभी वह कौशिकके लिए भिक्षा लायी। भिक्षा देते हुए उसने कहा "महाराज आपको बहुत देर ठहरना पड़ा, क्षमा कीजियेगा"। स्त्रीकी अपने प्रति कीगई उपेक्षाके कारण कौशिककी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। उसने कहा "देवी यह उचित नहीं कि तुमने मुझे इतनी देर तक रोक रखा। क्या तुम्हें ब्राह्मणकी प्रतिभा और सामर्थका पता नहीं है।" स्त्रीने कहा "ब्राह्मण-श्रेष्ठ, पतिकी सेवामें लगी रही इसलिए कुछ देर हो गयी क्षमा कीजिये।"

कौशिकको अपनी दृढ़-व्रतता और जीवनकी पवित्रताका घमंड था। उपदेश देने लगा "पतिकी सेवा स्त्रीका धर्म है, किन्तु आए हुए ब्राह्मण का अनादर करना ठीक नहीं। मालूम होता है तुम्हें पतिव्रता होनेका अभिमान हो गया है।" स्त्रीने विनीत भावसे कहा "नाराज न होइए। अपने पतिकी सेवामें लगी रहनेवाली स्त्री पर कुपित होना उचित नहीं। आपसे प्रार्थना है कि मुझे पेड़वाला बगुला समझनेकी गलती न कीजि-येगा। आपका क्रोध मुझे भस्म नहीं कर सकेगा। मैं बगुला नहीं हूँ।"

स्त्रीकी बातें सुनकर कौशिक चौंक उठा। उसे आश्चर्य हुआ कि स्त्रीको बगुलेके बारेमें कैसे पता चला? वह चकित हो रहा था कि इतनेमें स्त्री बोली "महात्मन्, आपने धर्मका मर्म नहीं समझा। शायद आपको इस बातका भी पता नहीं कि क्रोध एक ऐसा शत्रु है जो मनुष्यका नाश कर देता है। मेरा अपराध क्षमा करें। आपसे निवेदन है कि आप मिथिलापुरीमें रहने वाले धर्मव्याधके पास जाकर उनसे धर्मका उप-देश लें।

ब्राह्मण शान्त होकर बोला "देवी, आपका कल्याण हो। मुझे विश्वास है कि आप मेरी भलाईके लिए ही यह कह रही हैं। मैं अवश्य मिथिला जाऊँगा और धर्मव्याधसे उपदेश ग्रहण करूँगा।" यह कहकर

कौशिक मिथिला नगरीकी ओर चल पड़ा। मिथिला पहुंचकर वह धर्म-व्याधकी खोज करने लगा। उसने सोचा कि जो महात्मा मुझे उपदेश देने योग्य हैं वे अवश्य किसी आश्रममें रहते होंगे ? इस विचारसे कितने ही सुन्दर भवनों और सुहावने बाग-बगीचोंमें ढूंढा, पर धर्मव्याधका पता नहीं मिला। अन्तमें एक कसाईकी दुकानके पास पहुंचा। वहाँ एक आदमी बैठा मांस बेच रहा था। लोगोंने उसे बताया कि जो दुकानपर बैठे हैं वही धर्मव्याध हैं।

ब्राह्मणको कुछ समझमें नहीं आया। यह मांस बिक्रेता क्या शिक्षा देगा ? ब्राह्मणको भ्रममें पड़ा देखकर कसाई जल्दीसे उठकर उसके पास आया और बड़ी नम्रतासे बोला "महाशय, उस सती-साध्वी स्त्रीने ही तो आपको मेरे पास नहीं भेजा है ? "मैं आपके यहाँ आनेका उद्देश्य जानता हूं। चलिये, घर पधारिये। आपकी इच्छा पूरी होगी।" यह कहकर धर्मव्याध ब्राह्मणको अपने घर ले गया। वहाँ पहुँचकर कौशिकने धर्मव्याधको अपने माता-पिताकी श्रद्धापूर्वक सेवा करते देखा। इससे निवृत्त होकर धर्मव्याधने बताया कि जीवन क्या है, कर्म·क्या है और मनुष्यके कर्तव्य क्या हैं ? यह उपदेश सुनकर कौशिक अपने घर लौट आया ओर धर्मव्याधके उपदेशके अनुसार अपने माता-पिताकी सेवा टहलमें लग गया, जिनकी उपेक्षा करके वह वेदाध्ययन और तपस्या करने चला गया था।

धर्मव्याधकी कथा स्पष्ट करती है कि मनुष्य कोई भी काम निष्ठा पूर्वक करता हुआ ईश्वरकी कृपा प्राप्त कर सकता है। मनुष्यको जो काम सहज प्राप्त हो उसे कर्तव्य समझकर अनासक्त भावसे करना चाहिये। न कोई व्यवसाय ऊँचा है न नीचा। धर्मज्ञान केवल धर्म ग्रंथोंको पढ़नेसे या कठोर तपस्या करनेसे नहीं आता पर अपने कर्तव्यको पूरा करने और अपने जीवनको सेवामें अर्पित करनेसे आता है।

महाभारतकी तुलाधार जाजलि संवादवाली कथाको भी सुन लो।

जाजलि नामका एक प्रसिद्ध ब्राह्मण था। वह महान तपस्वी था। वह प्रति दिन अग्निहोत्र करता और वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहता था। एकबार उसने स्थिर रूपसे खड़े रहकर महीनों तक घोर तपस्या की। उसके बिना हिले-डुले खड़े रहनेके कारण पक्षियोंने उसकी जटाओंमें घोसला बना लिया। इतनी कठोर तपस्या करने पर उसे यह विचार आया कि उसने धर्म प्राप्त कर लिया। इतनेमें उसने सुना "जाजलि तुम

धर्मज्ञानमें तुलाधार वैश्यके समान नहीं हो। वाराणसीमें महाज्ञानी तुलाधार वैश्य रहते हैं।" ऐसा सुनने पर जाजलिको तुलाधार वैश्यसे मिलनेकी इच्छा हुई। जब वह वाराणसी पहुँचा, उसने तुलाधारको सौदा बेचते देखा। विविध पदार्थोंके क्रय-विक्रयसे जीवन-निर्वाह करने वाले तुलाधारने खड़े होकर ब्राह्मण जाजलिका स्वागत-सत्कार किया।

जाजलिने पूछा "हे वैश्य तुम तो दिन-रात व्यवसायमें लगे रहते हो, तुम्हें धर्ममें निष्ठा रखनेवाली बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई, तुम्हें, धर्मज्ञान कैसे हुआ, मुझे समझाकर बताओ।"

तुलाधार वैश्यने कहा—मैं माल बेचनेमें छल-कपट एवं असत्यसे काम नहीं लेता। मैं मदिरा नहीं बेचता। मैं न किसीसे विरोध करता हूं न किसीसे मेरा द्वेष है। समस्त प्राणियोंके प्रति मेरा समभाव है। मेरी तराजू सब मनुष्योंके लिए सम है—सबके लिए बराबर तौलती है। मेरी निन्दा करनेवाले और मेरी प्रशंसा करनेवाले दोनों ही मेरे लिए बराबर हैं। जो सब जीवोंका मित्र होता है और मन वाणी तथा कर्म द्वारा सदा सबके हितमें लगा रहता है, वही वास्तवमें धर्मको जानता है। जो जितेन्द्रिय पुरुष अपने चित्तमें दूसरोंके प्रति द्रोह न रखकर, श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा पालित आचारको अपने आचरणमें लाता है, वह सदाचारका पालन करनेसे शीघ्र ही धर्मके रहस्यको जान लेता है।

तुलाधार वैश्यके वचनोंको सुनकर जाजलिको धर्मके रहस्यका बोध हुआ और शान्ति प्राप्त हुई।

महाभारतकी इन सब कथाओं द्वारा व्यासजी स्पष्ट करते हैं कि पुरुष, स्त्री, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र सभी स्वकर्ममें निरत रह कर नियत कर्म द्वारा ईश्वरकी पूजा कर मोक्ष पा सकते हैं। गीताकी महिमा, गीताकी विशेषता, गीताकी लोकप्रियता, गीताकी समदृष्टि इस बात में है कि गीता परमगति पानेका अधिकार स्त्री-पुरुष, अमीर गरीब, ब्राह्मण-वैश्य, पुजारी, कथा-वाचक, मोची, मेहतर; शिक्षित-अशिक्षित, हिन्दू-अहिन्दू सबको देती है और मार्ग भी बताती है। वह मार्ग है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

जो-जो खाओ करो होमों तथा जो तप आचरो।
देओ जो दान इत्यादि करो सो मम अर्पण॥

तिलक महाराज "गीता रहस्य" में लिखते हैं—"गीता-धर्म कैसा है ? वह सर्वतोपरि निर्भर और व्यापक है। वह सम है, अर्थात् वर्ण, जाति, देश या किसी अन्य भेदोंके झगड़ेमें नहीं पड़ता, किन्तु सब लोगोंको एक ही मापतौलसे सद्गति देता है।"

श्रीभगवान कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे नमस्कार कर, इससे मुझमें परायण होकर, आत्माको मेरे साथ जोड़ कर, तू मुझे ही पावेगा।

मुझमें मन लगाका मतलब श्रीकृष्णमें मन लगा ऐसा नहीं समझना। हिन्दूसे कहते हैं तू ईश्वरमें मन लगा। इसाईसे कहते हैं तू गाडकी पूजा कर, मुसलमानसे कहते हैं तू खुदाकी इबादत कर, अग्निपूजकसे कहते हैं अग्निकी उपासना कर। मुझमें मन लगासे तात्पर्य है, उस सर्वशक्तिमान परमात्मामें मन लगाना जिसे विविध धर्म विविध नामोंसे पुकारते हैं।

■

दसवाँ अध्याय

इस अध्यायमें भगवानकी विभूतियोंका वर्णन है। कुछ श्लोक सुनो—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

मैं सब प्राणियोंके हृदयमें विद्यमान आत्मा हूँ। मैं ही भूतमात्रका आदि, मध्य और अन्त हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावरणां हिमालयः ॥

मैं महर्षियोंमें भृगु और शब्दोंमें एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ। सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय मैं हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥

दैत्योंमें प्रहलाद मैं हूँ, गिननेवालोंमें काल मैं हूँ, पशुओंमें सिंह मैं हूँ, पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूँ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

जो जो भी विभूति युक्त, कान्तियुक्त या प्रभावशाली वस्तु या प्राणी है उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

बहुत जानकर तुझे क्या करना है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्को एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।

सब प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे परमात्मा ही निवास करता है। वही सारे प्राणियोंका आदि, मध्य और अन्त है। ज्योतियोंमें जगमगाता सूर्य, दैत्योंमें प्रहलाद, यज्ञोंमें जप, पक्षियोंमें गरुड़, स्थिर वस्तुओंमें हिमा-

लय और नदियोंमें गंगा भी वही है। सारे जगतको उसीने रचा है और उसीने धारण कर रखा है।

याद करो वह कविता जो तुमने कक्षा २ में पढ़ी थी—

जिसने सूरज चाँद बनाया,
जिसने तारों को चमकाया,
जिसने फूलों को महकाया,
जिसने चिड़ियों को चहकाया,
जिसने सारा जगत बनाया,
हम उस ईश्वर के गुण गायें।
उसे प्रेम से शीश झुकायें॥

श्रीभगवान ईश्वर दर्शनकी सरल विधि बता रहे हैं। यदि प्रारम्भमें हमें ईश्वरके दर्शन सर्वत्र नहीं होते तो इस संसारमें जहाँ-जहाँ दिव्यता है, तेज है, शक्ति है, विभूति है पहले वहाँ तो हम ईश्वरके दर्शन करना सीखें। यदि हमें चमकते सूर्य, शीतल चांद, लहराते समुद्र, बहती गंगा, स्थिर हिमालय और दहाड़ते सिंहमें ईश्वरके दर्शन होने लगें तो समझो हम सर्वत्र ईश्वर दर्शनके पाठ्यक्रमकी प्रथम परीक्षा पास हुए।

गीता सार्वभौम ग्रन्थ है। गीता संकीर्णताके परे है। वह हर विभूति में ईश्वरका दर्शन कराती है। गीता न कृष्णकी पूजाका आग्रह करती है न रामकी। जिस विभूतिमें तुम्हें ईश्वरके दर्शन हों उसकी आराधना द्वारा तुम ईश्वरकी पूजा करो। श्रीभगवान कहते हैं दैत्योंमें मैं प्रहलाद हूँ, वृक्षोंमें मैं पीपल हूँ, पशुओंमें मैं सिंह हूँ, रुद्रोंमें मैं शंकर हूँ। जो श्रेष्ठ हैं जो प्रभावशाली हैं उन सबमें एक ईश्वरकी ही प्रतिभा विकसित हुई है। यदि बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद और गाँधी श्रीभगवानके गीता गायन के पहले हुए होते तो सम्भवतः श्रीभगवान कहते—त्यागियोंमें मैं बुद्ध हूँ, अहिंसकोंमें मैं महावीर हूँ, निराकार पूजकोंमें मैं मुहम्मद हूँ, मानव प्रेमियोंमें मैं ईसा हूँ, सत्याग्रहियोंमें मैं गाँधी हूँ।

■

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुनके निवेदन करनेपर श्रीभगवानने उसे विश्वरूपका दर्शन कराया।

भगवानके विश्वरूप या विराटरूपको साधारण नेत्रोंसे नहीं देखा जा सकता। उसको देखनेके लिए दिव्य दृष्टि चाहिये। यह चराचर संसार भगवानका ही रूप है। ईश्वर कृपासे ही यह दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है कि जो कुछ दीखता है, जो नहीं दीखता, जो कुछ जल, थल और नभमें है, जो कुछ इस जगत और इस जगतके परे है; सब कुछ वासुदेवमय ही है।

महावीर स्वामीने कहा—

खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ॥

मैं सब जीवोंको क्षमा करता हूँ और सब जीव मुझे भी क्षमा दान दें। सब जीवोंके साथ मेरी मैत्री है—किसीके भी साथ मेरा वैर नहीं है।

तुलसीदासजीने गाया—

सीय राम मय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

सारे जगतको सीताराम मय जानकर मैं दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ।

उपनिषदने कहा—

ईशावास्यमिदं सर्वम्
यत् किंच जगत्यां जगत्

ईश्वर सर्वव्यापक है। जगतमें जो भी जीवन है सब ईश्वरसे भरा है।

गाँधीजीने कहा—

"मैं न केवल मानव कहलानेवाले प्राणियोंके साथ ही भाईचारा या एकता महसूस करना चाहता हूँ, बल्कि सब प्राणियोंके साथ, यहाँ तक कि पृथ्वी पर रेंगनेवाले जीवोंके साथ भी एकता साधना चाहता हूँ। आपको आघात न पहुँचे तो मैं यह कहूँगा कि मैं पृथ्वीपर रेंगनेवाले प्राणियोंके साथ एकता इसलिए

चाहता हूँ कि हम एक ही ईश्वरकी सन्तान होनेका दावा करते हैं, और अगर ऐसा है तो नाम-रूप कुछ भी हों, समस्त प्राणी वास्तवमें एक ही हैं।"

इन सभीको कृपालु ईश्वरने दिव्य दृष्टि दी और इन्हें विश्वरूपकी झलक मिली।

ग्यारहवें अध्यायमें ईश्वरके विश्वरूपका चमत्कारपूर्ण वर्णन है।

अर्जुनने विश्वरूपमें सारे संसारको एक ही स्थान पर देखा। ईश्वरके विराट रूपमें समस्त स्थावर जंगमके दर्शन उसे हुए। अर्जुनने देखा कि महाकाल रूपी विश्वात्मामें सभी जीव समा रहे हैं। सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का संचालन करनेवाला, और उन्हें संवरण करनेवाला ईश्वर ही है। मनुष्य तो केवल निमित्त मात्र है।

विश्वरूपका दर्शन पाकर अर्जुनने ईश्वरकी स्तुति की—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

आप ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगतके परम आश्रय हैं, आप ही शाश्वत धर्मके रक्षक हैं और आप ही सनातन पुरुष हैं ऐसा मैं मानता हूँ।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

आप आदिदेव हैं। आप पुराण-पुरुष हैं। आप इस विश्वके परम आधार हैं। आप जानने वाले हैं और जानने योग्य हैं। आप परमधाम हैं। हे अनन्तरूप, आपसे जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चंद्रमा, प्रजापति तथा प्रपितामह आप ही हैं। आपको हजारों बार नमस्कार है। फिर फिर नमस्कार हैं।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

हे अनन्त सामर्थ्य वाले, आपको आगे, पीछे सब ओरसे नमस्कार है। आप अनन्त पराक्रमशाली हैं। आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

आप इस स्थावर-जंगम जगत्के पिता हैं। आप सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं। हे अनुपम प्रभाव वाले! तीनों लोकोंमें आपके समान भी कोई दूसरा नहीं है, फिर अधिक कैसे हो सकता है?

विश्वरूपका दर्शन करानेके बाद श्रीभगवानने अर्जुनके निवेदन करने पर उसे चतुर्भुजरूपमें दर्शन दिया और कहा—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं, च परतप ॥

अनन्य भक्ति द्वारा ही शक्य है यह अर्जुन।
जानना देखना पाना, तत्वपूर्वक यों मुझे ॥

मेरे सम्बन्धमें ऐसा ज्ञान, ऐसे मेरे दर्शन और मुझमें तत्त्वसे प्रवेश (प्राप्ति) केवल अनन्यभक्तिसे ही सम्भव है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

पाण्डव = हे अर्जुन   सर्वभूतेषु = सब प्राणियोंमें
यः = जो पुरुष/जो स्त्री   निर्वैरः = वैरभावसे रहित है

मत्कर्मकृत् = मेरे ही लिए कर्म करनेवाला है
मत्परमः = मेरे परायण है
मद्भक्तः = मेरा भक्त है
सः = वह पुरुष/स्त्री
माम् = मुझको ही
एति = प्राप्त होता है

मेरे अर्थ करे कर्म मत्परायण भक्त जो।
जो अनासक्त निर्वैर, सो आके मिलता मुझे ॥

जो सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिका त्याग करता है और प्राणिमात्रके प्रति द्वेष-रहित होकर रहता है, वह मुझे पाता है।

पूज्य बापूजी लिखते हैं—

"सर्वार्पण विना और सर्वव्यापक प्रेमके बिना भक्ति नहीं है। ईश्वरके कालरूपका मनन करनेसे और उसके मुखमें सृष्टिमात्रको समा जाना है—प्रतिक्षण कालका यह काम चलता ही रहता है—इसका भान आ जानेसे सर्वार्पण और जीवमात्रके साथ ऐक्य अनायास हो जाता है। चाहे, विनचाहे, इस मुखमें हम अकल्पित क्षणमें पड़नेवाले हैं। वहाँ छोटे-बड़ेका, नीच-ऊँचका, स्त्री-पुरुषका, मनुष्य-मनुष्येतरका भेद नहीं रहता है। सब कालेश्वरके एक कौर हैं, यह जान कर हम क्यों दीन, शून्यवत् न बनें, क्यों सबके साथ मैत्री न करें ? ऐसा करने-वालेको वह काल-स्वरूप भयंकर नहीं, बल्कि शान्तिस्थल लगेगा।"

तुम विश्वास करो और श्रद्धा रखो कि विश्वरूपका दर्शन प्रत्येक मनुष्यके लिए सम्भव है। अर्जुनकी तरह श्रीभगवानकी शरण जाकर दीर्घकालतक निष्पाप जीवन व्यतीत करनेवाला, एक-एक कदम सही दिशामें आगे रखते हुए प्राणिमात्रसे एकता स्थापित करनेका अभ्यास और साधना करनेवाला, ईश्वरकृपासे विश्वरूपका दर्शन पा सकता है। भले ही उसे इस दर्शनको प्राप्त करनेमें अनेक जन्म धारण करना पड़े। पर उसे दर्शन मिलेगा जरूर, यह अचल श्रद्धा रखनी चाहिये। श्रीभग-वान स्वयं कहते हैं "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। सब प्राणियोंमें मैं समभावसे रहता हूँ। मुझे कोई अप्रिय या प्रिय नहीं है। क्रमशः साधना करते और प्राणिमात्रसे एकता साधते कैसे विश्वरूपका दर्शन हो सकता है इसे एक जीवनकथासे समझनेका प्रयास करो। यह सच्ची बात हैं जो विनोबाजीने अपनी माँके सम्बन्धमें लिखी है।

"मेरे पिताजी अपने घरमें हमेशा बाहरके किसी न किसी लड़केको लाकर रख लेते थे। उस लड़केको ठीक घरके जैसा ही रखा जाता था। इसी तरह

उसका खाना-पीना, अध्ययन आदि होता। पिताजीको तो पुण्य-प्राप्ति होती थी, लेकिन सारी सेवा माँको करनी पड़ती थी। घरमें कभी-कभी रोटी बच जाती तो ठंडी रोटी पहले माँ खा लेती थी, उसके खानेसे जो बचती, वह मुझे देती थी। लेकिन उस लड़केको हमेशा ताजी रोटी मिलती थी। उसको कभी ठंडी रोटी नहीं दी जाती थी।

मैं कभी-कभी माँसे मजाक कर लेता था। वही थी, जिससे मैं मजाक कर सकता था। मैं मजाकमें कहता "अभी तेरा भेद-भाव मिटा नहीं। मुझे दोपहरकी रोटी देती है और उस लड़केको ताजी रोटी खिलाती है।"

इसपर उसने जो जवाब दिया, सुनकर मैं निहाल हो उठा। उसने कहा "वह मुझे भगवत्स्वरूप दीखता है और तू मुझे पुत्रस्वरूप। तुझमें मेरी आसक्ति है। तेरे लिए मेरे दिलमें पक्षपात है ही। तू भी जब मुझे भगवत्स्वरूप दीखेगा, यह भेद-भाव नहीं करूंगी।"

विनोबाजीकी माताजीकी आत्मा कल्याणमार्ग पर चल रही है, अभी एक लड़का भगवतस्वरूप दीखता है, जब विकास करते करते, उद्धार करते करते ऐसी स्थिति पर पहुँच जायगी कि उसे जीवमात्र भगवत्-स्वरूप दीखने लगे तब उसे विश्वरूपका दर्शन हो जायगा। हो सकता है ऐसा करनेमें उसे हजार वर्ष लगे पर "न हि कल्याणकृत्कश्चित्दुर्गति तात गच्छति"—कल्याणमार्ग पर जाने वालेकी कभी दुर्गति होती ही नहीं।

बापूजी लिखते हैं—

"मैं हर मानव प्राणीके लिए यह संभव मानता हूँ कि वह उस सुखद और अवर्णनीय स्थितिको प्राप्त कर सकता है, जिसमें उसे अपने भीतर ईश्वरके सिवा और किसी चीजका अस्तित्व महसूस ही न हो।"

श्रीरामचरितमानसमें श्रीरामने हनुमानको विश्वरूपका दर्शन पानेकी युक्ति बतायी।

श्रीराम कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

जिसकी ऐसी भावना सर्वदा बनी रहती है कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर जगत मेरे स्वामी भगवान्का रूप है—उसने विश्वरूपका दर्शन किया है। ■

बारहवाँ अध्याय

अर्जुनने पूछा—

> एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
> ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

इस प्रकार जो भक्त आपका निरन्तर ध्यान धरते हुए आपकी उपासना करते हैं और जो आपके अविनाशी अव्यक्त स्वरूपका ध्यान धरते हैं, उनमेंसे कौन योगी श्रेष्ठ माना जायगा ?

श्रीभगवानने कहा—

> मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
> श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

नित्य ध्यान करते हुए, मुझमें मन लगाकर जो श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करता है उसे मैं श्रेष्ठ योगी मानता हूँ ।

> ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
> सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
> संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
> ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

सब इन्द्रियोंको वशमें रखकर, सर्वत्र समत्वका पालन करके जो दृढ़, अचल, धीर, अचिन्त्य, सर्वव्यापी, अव्यक्त, अवर्णनीय, अविनाशी स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे सारे प्राणियोंके हितमें लगे हुए मुझे ही पाते हैं ।

> क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
> अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

जिनका चित्त अव्यक्तमें लगा हुआ है उनकी कठिनाई अधिक है । अव्यक्त गतिको देहधारी कष्टसे ही पा सकता है ।

गांधीजी लिखते हैं—देहधारी मनुष्य अमूर्त स्वरूपकी केवल कल्पना ही कर सकता है. पर उसके पास अमूर्त स्वरूपके लिए एक भी निश्चयात्मकशब्द

नहीं है, इसलिए उसे निषेधात्मक 'नेति' शब्दसे सन्तोष करना ठहरा। इस दृष्टिसे मूर्तिपूजाका निषेध करने वाले भी सूक्ष्म रीतिसे विचारा जाय तो मूर्ति-पूजक ही होते हैं। पुस्तककी पूजा करना, मन्दिरमें जाकर पूजा करना, एक ही दिशामें मुख रखकर पूजा करना, ये सभी साकार पूजाके लक्षण हैं। तथापि साकारके उस पार निराकार अचिंत्य स्वरूप है, इतना तो सबके समझ लेनेमें ही निस्तार है। भक्तिकी पराकाष्ठा यह है कि भक्त भगवानमें विलीन हो जाय और अन्तमें केवल एक अद्वितीय अरूपी भगवान ही रह जाय। पर इस स्थिति-को साकार द्वारा सुलभतासे पहुँचा जा सकता है। इसलिए निराकारको सीधे पहुंचनेका मार्ग कष्टसाध्य बतलाया है।"

ग्रन्थसाहबकी वाणी है—

जहाँ बोल तहं अक्खर आवा।
जहाँ अबोल तहं मन न रहावा॥
बोल अबोल मध्य है जोई।
जस वह है तस लखै न कोई॥

कबीरदासजी कहते हैं—

सगुन की सेवा करो निर्गुन का करु ज्ञान।
निर्गुन सगुन के परे तहैं हमारा ध्यान॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

जो मुझमें परायण रहकर, सब कर्म मुझे समर्पण करके, एक निष्ठासे मेरा ध्यान धरते हुए मेरी उपासना करते हैं और मुझमें जिनका चित्त पिरोया हुआ है उन्हें मृत्युरूपी संसार-सागरसे मैं शीघ्र ही पार कर लेता हूँ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

अपना मन मुझमें लगा, अपनी बुद्धि मुझमें रख, इससे इस जन्मके बाद निःसंशय मुझे ही पावेगा।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

जो तू मुझमें अपना मन स्थिर करनेमें असमर्थ हो तो, अभ्यास-योग द्वारा मुझे पानेकी इच्छा रखना।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

ऐसा अभ्यास रखनेमें भी तू असमर्थ हो तो कर्ममात्र मुझे अर्पण कर और इस प्रकार मेरे निमित्त कर्म करते-करते भी तू मोक्ष पावेगा।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और जो मेरे निमित्त कर्म करनेकी भी तेरी शक्ति न हो तो यत्नपूर्वक सब कर्मोंके फलका त्याग कर।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अभ्याससे ज्ञान श्रेयस्कर है। ज्ञानसे ध्यान श्रेयस्कर है। ध्यानसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है। कर्मफलत्यागसे तुरन्त शान्ति प्राप्त होती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो प्राणिमात्रके प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र, दयावान, ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखमें समान, क्षमावान, सदा सन्तोषी, योगयुक्त, इन्द्रियनिग्रही और दृढ़निश्चयी है और मुझमें जिसने अपनी बुद्धि और मन अर्पण कर दिया है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे लोग कभी उद्विग्न नहीं होते, जो लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता, जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेगसे मुक्त है, वह मुझे प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो इच्छा रहित है, पवित्र है, सावधान है, तटस्थ है, चिन्ता रहित है, जिसने सब आरम्भों का त्याग किया है, वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

बापूजीकी टिप्पणी—

"जैसे एक व्यापारी आज कपड़ेका व्यापार करता है तो कल उसमें लकड़ीका और शामिल करनेका उद्यम करने लगा। अथवा कपड़ेकी एक दुकान है तो कल पाँच और दुकानें खोल बैठा, इसका नाम आरम्भ है। भक्त उसमें न पड़े। यह नियम सेवाकार्यके बारेमें भी लागू होता है। आज खादीकी मारफत सेवा करता है तो कल गायकी मारफत, परसों खेतीकी मारफत और चौथे दिन डाक्टरीकी मारफत। इस प्रकार सेवक भी फुदकता न फिरे। उसके हिस्सेमें जो आ जाय, उसे पूरी तरह करके मुक्त हो। भक्तके सब आरम्भ भगवान रचता है।"

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जिसे हर्ष नहीं होता, जो द्वेष नहीं करता, जो शोक नहीं करता, जो आशाएँ नहीं बांधता, जो शुभाशुभका त्याग करनेवाला है, वह भक्ति परायण मुझे प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत, उष्ण, सुख-दुःख इन सबमें जो समतावान है, जिसने आसक्ति छोड़ दी है, जो निन्दा और स्तुतिमें समान भावसे बर्तता है और मौन धारण करता है एवं जो कुछ मिल जाये उसीमें सन्तुष्ट रहता है, जिसका कोई अपना निजी स्थान नहीं है, जो स्थिरचित्त है ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

ऊपर बतलाए हुए धर्ममय अमृतको जो मुझमें परायण रहकर श्रद्धापूर्वक सेवन करते हैं वे मेरे अतिशय प्रिय भक्त हैं ।

श्रीभगवानके बताए भक्तके लक्षण नित्य मनन करने योग्य हैं । इस पाठको तुम्हें अवश्य कंठस्थ कर लेना चाहिये ।

तुलसीदासजी ने भी सन्तके लक्षण लगभग वही बताए हैं जो श्रीभगवानने भक्तके बताए हैं ।

भगवान राम वनसे वापस आ गए थे । एक दिन सब भाई तथा हनुमानजी भगवान श्रीरामके पास बैठे थे तब भरतने विनयपूर्वक श्रीरामसे सन्त और असन्तके लक्षण बतानेका अनुरोध किया ।

श्रीरामने कहा—

संत असंतन्हि कै असि करनी । जिमि कुठार चंदन आचरनी ॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥
ताते सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड ।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु बदन यह दंड ॥
बिषय अलंपट सील गुनाकर । पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी । लोभामरष हरष भय त्यागी ॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया । मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी । भरत प्रान सम मम ते प्रानी ॥
बिगत काम मम नाम परायन । सांति बिरति बिनती मुदितायन ॥
सीतलता सरलता मयत्री । द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री ॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर । जानेहु तात संत संतत फुर ॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं । परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं ॥
निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज ।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मन्दिर सुख पुंज ॥

संत और असंतोंकी करनी ऐसी है जैसे कुल्हाड़ी और चंदनका आचरण होता है । कुल्हाड़ी चंदनको काटती है, क्योंकि उसका स्वभाव या काम ही वृक्षोंको काटना है, किन्तु चन्दन—अपने स्वभावके अनुरूप—अपनी सुगन्धसे उस काटनेवाली कुल्हाड़ीको सुगंधित कर देता है । इसी गुण—परहित—के कारण चन्दन देवताओंके सिर पर चढ़ाया जाता है

और जगतका प्रिय हो रहा है। कुल्हाड़ीके मुखको यह सजा मिलती है कि उसको आगमें तपाकर हथौड़ेसे पीटते हैं।

संत विषयोंमें लिप्त नहीं होते, शील और गुणोंसे भरे होते हैं। उन्हें पराया दुःख देखकर दुःख होता है और सुख देखकर सुख होता है। वे सर्वत्र समता रखते हैं, उनका कोई शत्रु नहीं है, वे मदसे रहित और वैराग्यवान होते हैं तथा लोभ, क्रोध, हर्ष और भयका त्याग किये हुए रहते हैं। संतोंका चित्त बड़ा कोमल होता है। वे दीनों पर दया करते हैं तथा मन, वचन और कर्मसे मेरी निष्कपट भक्ति करते हैं। सबको सम्मान देते हैं पर स्वयं सम्मानकी कामना नहीं रखते। ऐसे मनुष्य मुझे प्राणके समान प्रिय हैं। उनको कोई कामना नहीं होती। वे मेरे नामके परायण होते हैं। शान्ति, वैराग्य, विनय और प्रसन्नता उनमें सदा बनी रहती है। उनमें शीतलता, सरलता, सबके प्रति मित्रता और ब्राह्मणके चरणोंमें प्रीति होती है। ये सब लक्षण जिसके हृदयमें बसते हों उन्हें सच्चा संत समझना। संत शम (मनके निग्रह), दम (इन्द्रियों के निग्रह), नियम और नीतिसे कभी विचलित नहीं होते तथा कभी कठोर वचन नहीं बोलते। जिन्हें निन्दा और स्तुति दोनों समान है और मेरे चरण-कमलोंमें जिनकी ममता है, वे गुणोंके धाम और सदा सुखी संतजन मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं।

तुम स्वयं देखलो कि जो गुण श्रीकृष्णको प्रिय हैं वे ही गुण श्रीराम-को प्रिय हैं। तुम किसीके भी भक्त हो या जिस किसीकी पूजा करते हो तुम्हें उसका प्रिय बननेके लिए इन गुणोंको धारण करना होगा।

गीताने भक्तके लक्षणोंमें एक भी बाहरी चिन्हका उल्लेख नहीं किया है। गीताका तिलक, चोटी, रुद्राक्षकी माला, वेष-भूषा तथा तरह-तरहके बाहरी चिन्होंसे न विरोध है न लगाव। यदि ये बाहरी चिन्ह मनुष्यको गुणवान बननेमें, सेवामय जीवन बितानेमें मदद करते हैं तो उनकी उप-योगिता है और यदि वे मनुष्यको अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें सहायक होते हैं और उसे दम्भी बनाते हैं तो वे त्याज्य हैं। दयावान, अहंकार रहित, सुख-दुःखमें समान इन्द्रिय-निग्रही स्त्री-पुरुष श्रीभगवानको प्रिय हैं चाहे वे किसी जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, धर्म या देशके हों। उपासना-की विधियोंका महत्व नहीं है। मनुष्य उपासनाका कोई भी मार्ग पकड़े। उपासक गुणवान बननेका जो प्रयत्न करता है उसका महत्व है।

बापूजी लिखते हैं—"भगवती गीता-माता द्वारा उपदिष्ट सनातनधर्मके अनुसार जीवनका साफल्य बाह्य आचार और कर्मकाण्डमें नहीं, वरन् सम्पूर्ण

चित्त-शुद्धिमें और शरीर, मन और आत्मा सहित समग्र व्यक्तित्वको परब्रह्मके साथ एकाकार कर देनेमें है।"

तत्वकी बात यह हुई कि हमें काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, घृणा, अहं-कार, भय इत्यादिका त्याग करना है और प्रेम, सरलता, मैत्री, नम्रता, सन्तोष, सहनशीलता, उदारता इत्यादिको धारण करना है, तभी हम ईश्वरके प्रिय होंगे। इस तत्वको व्यवहारमें उतारना है।

बापूजी कहते हैं "जब तत्व व्यवहारमें आता न दिखे तब जानलो कि हमने तत्वको अच्छी तरह नहीं पहचाना है। शुद्ध तत्व हमारे व्यवहारमें उतरना ही चाहिये। पूरी तरह तो कोई तत्व व्यवहारमें नहीं उतारा जा सकता। परन्तु जो व्यवहार तत्वके निकट नहीं जाता वह अशुद्ध और त्याज्य है।"

तुम्हें तत्व ज्ञात हो गया कि काम, क्रोध, लोभ और द्वेषका त्याग करना चाहिये। अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् तुमने पढ़ा। अब अद्वेष्टा सर्वभूता-नाम् पढ़ते हुए तुम अपने सगे भाईसे भी द्वेष करते रहो तो यह कहा जायगा कि तत्व तुम्हारे व्यवहारमें नहीं उतरा। अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् पढ़कर तुम्हें अपने भाईसे द्वेष करना छोड़कर अन्य मनुष्योंसे द्वेष करना छोड़नेके रास्ते पर अग्रसर होना होगा। भाई, पड़ोसी, स्वजनसे अद्वेष करनेवाले सँकरे रास्ते पर चलकर ही तुम सर्वभूतानाम् अद्वेषके चौड़े रास्ते पर पहुँच सकोगे।

■

तेरहवां अध्याय

श्रीभगवानने कहा—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।

यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और जो इसको जानता है, उसे तत्व-ज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ (क्षेत्रको जानने वाला) कहते हैं ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।

सब क्षेत्रोंमें–शरीरोंमें–क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मेरेको ही जान । मेरा मत है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदका ज्ञान ही ज्ञान है ।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।

वह परमात्मा सब भूतोंके बाहर है और अन्दर भी है । वह गतिमान है और स्थिर भी है । सूक्ष्म होनेके कारण वह अविज्ञेय है । वह दूर है और समीप भी है ।

प्राणियोंमें वह अविभक्त (अखंडित) है और विभक्त-सरीखा भी विद्यमान है । वह जानने योग्य परमात्मा सब प्राणियोंका पालक, नाशक और कर्ता है ।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।

जो समस्त नाशवान प्राणियोंमें अविनाशी परमेश्वरको सम-भावसे स्थित देखता है वही देखता है ।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।

जो मनुष्य ईश्वरको सर्वत्र समभावसे अवस्थित देखता है वह अपने आपका घात नहीं करता और इससे परमगतिको पाता है।

सर्वत्र ईश्वरका दर्शन करनेवाले ज्ञानीजन जो परम गति पाते हैं वही परमगति स्त्री, वैश्य और शूद्र भी पाते हैं। ऊपरकी 'ततो याति परां गतिम्' की तुलना नवें अध्यायके बत्तीसवें श्लोककी "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्' से करो। श्रीभगवान स्त्री, वैश्य और शूद्रको भी वही परमगति देते हैं जो ज्ञानीको देते हैं। निष्ठापूर्वक स्वधर्मका पालन करके परमगति किसी भेदभावके बिना सभी प्राप्त कर सकते हैं। ईश्वर महान साम्यवादी है, समाजवादी है। उसके दरबारमें समता है। ऊँच-नीच, छूत-अछूत, स्त्री-पुरुष, धनी-गरीबकी सारी गड़बड़ी मनुष्यने अपने स्वार्थ-वश कर रखी है।

इस अध्यायमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका वर्णन है। शरीरको क्षेत्र कहते हैं। इसमें पाप और पुण्यकी खेती होती है। इसलिए उसे क्षेत्र कहा गया है। क्षेत्रज्ञ है जीव। जीव परमात्माका ही अंश है। पांच महाभूत, (पृथ्वी, पानी, आकाश, वायु और तेज) अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, दस इन्द्रियां (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ) मन, पाँचों इन्द्रियोंके विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति यह सब मिलकर विकारोंवाला क्षेत्र बना है। इस शरीर और इसके विकारोंको जानना चाहिये।

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दंभका त्याग, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्यकी सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्म-संयम, विषयोंमें वैराग्य, स्त्री-पुत्र, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें समता रखना, परमेश्वरमें अनन्य भक्ति तथा आत्मदर्शन—यह सब ज्ञान कहा जाता हैं। इसके विपरीत जो है उसे अज्ञान मानना चाहिये।

परमात्मा सर्वव्यापक है। उसकी शक्ति अलौकिक है। वह सब इन्द्रियोंके विषयको जानने वाला है परन्तु उसके कोई इन्द्रिय नहीं है। वह दूर भी है और पास भी है। वह उत्पन्न करता है, पालता है और वही मारता है। वह तेजोंका तेज है। सबमें मौजूद परब्रह्म ही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है।

प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं। विकार और गुण प्रकृतिसे ही पैदा होते हैं। जैसे आकाश सर्वव्यापक होते हुए भी सूक्ष्मताके कारण कहीं लिप्त नहीं होता, वैसे ही शरीरमें रहकर भी आत्मा लिप्त नहीं

होता। जैसे सूर्य सारे संसारको प्रकाशित करता है वैसे ही यह आत्मा सारे क्षेत्र (शरीर) को प्रकाशित करता है।

इस अध्यायकी सरल व्याख्या करते हुए बापूजी लिखते हैं।

"प्रभु और उसकी माया दोनों अनादिसे चलते आए हैं। मायामेंसे विकार पैदा होते हैं और उनसे अनेक प्रकारके कर्म पैदा होते हैं। मायाके कारण जीव सुख-दुख, पाप-पुण्यका भोगनेवाला बनता है। यह जानकर जो अलिप्त रहकर कर्तव्य कर्म करता है, वह कर्म करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता; क्योंकि वह सर्वत्र ईश्वरको देखता है और उसकी प्रेरणाके बिना एक पत्ता तक नहीं हिल सकता, यह जानकर वह अपने बारेमें अहंताको नहीं मानता है, अपनेको शरीरसे अलग देखता है और समझता है कि जैसे आकाश सर्वत्र होते हुए भी निर्लिप्त ही रहता है, वैसे जीव शरीरमें रहते हुए भी ज्ञान द्वारा निर्लिप्त रह सकता है।"

■

चौदहवाँ अध्याय

श्रीभगवानने कहा—

जिस उत्तम ज्ञानको पाकर मुनियोंने परम सिद्धि पाई है, वह मैं तुझसे फिर कहता हूँ। उस ज्ञानको धारण करके मनुष्य मेरे स्वरूप को प्राप्त करते हैं और जन्म-मरणके चक्करसे बच जाते हैं। जानले कि प्रकृति जीवमात्रकी जननी है और मैं जीवमात्रका पिता हूँ। प्रकृतिसे उत्पन्न तीन गुण—सत्व, रज और तम, अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँध देते हैं। सत्वगुण निर्मल और निर्दोष हैं तथा प्रकाश देनेवाला है। रजोगुणसे राग, तृष्णा, लोभ और आसक्ति बढ़ती है। तमोगुणसे प्रमाद और आलस्य बढ़ता है। सत्वगुण जीवको सुखमें प्रवृत्त करता है। जब लोभ, अशान्ति, अस्थिरता और विविध कार्योंको करनेकी प्रवृत्ति हो तब रजोगुण बढ़ा समझना चाहिये। जब अज्ञान, आलस्य और मोह बढ़े तब तमोगुण बढ़ा समझना चाहिये। देहमें विद्यमान इन तीनों गुणोंको जो देही पार कर जाता है वह जन्म, जरा और मृत्युके दुःखोंसे मुक्त हुआ परमानन्दको प्राप्त होता है।

अर्जुनने पूछा—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥

तीन गुणोंसे परे हो जानेवाला किन लक्षणोंसे पहचाना जाता है? उसका आचरण किस प्रकारका होता है और वह किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है?

श्रीभगवानने कहा—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानिकाङ्क्षति ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

जो मनुष्य प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होनेपर दुःख नहीं मानता तथा इन सबके अभावमें उनकी कामना नहीं करता, जो तटस्थ रहता है, जिसे गुण विचलित नहीं करते, गुण ही अपना कामकर रहे हैं यह मानकर जो स्थिर रहता है, जो सुख–दुःखमें सम रहता है, स्वस्थ रहता है, जो मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेको समान समझता है, प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु प्राप्त होनेपर समता बनाये रखता है, जिसे अपनी निन्दा या स्तुति समान है, जिसे मान और अपमान समान है, जो मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष में समान भाव रखता है और जिसने समस्त आरम्भोंका त्यागकर दिया है वह गुणातीत यानी गुणोंसे ऊपर उठा हुआ कहा जाता है। जो अनन्य भक्तिसे मेरी सेवा करता है वह इन तीनों गुणोंसे परे जाकर ब्रह्म-साक्षात्कारके योग्य हो जाता है।

श्रीभगवानने दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञके जो गुण गिनाये हैं, बारहवें अध्यायमें उसीसे मिलते-जुलते भक्तके गुण हैं, चौदहवें अध्यायमें उसीसे मिलते-जुलते गुणातीतके गुण हैं। ये सब गुण इन्द्रधनुषके रंगोंकी तरह एक दूसरेमें ओत-प्रोत हैं। श्रीभगवान गुणोंके वर्णनमें पुनरुक्तिका दोष नहीं मानते हैं। वे प्रयत्नशील हैं कि उनके भक्तमें सद्गुणोंका विकास हो। हम सबको अपनेमें सद्गुणोंको बढ़ाने की सच्ची चाह होनी चाहिये। जहाँ चाह है वहाँ राह है।

बापूजी लिखते हैं—गीतामें स्थान-स्थान पर इसे स्पष्ट किया है कि सात्विकता गुणातीतके समीप-से-समीपकी स्थिति है। इसलिए मनुष्यमात्रका प्रयत्न सत्वगुणके विकास करनेका है। यह विश्वास रखे कि उसे गुणातीतता अवश्य प्राप्त होगी।

सुख-दुःखमें सम रहना, मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेको समान समझना, प्रिय या अप्रियके प्राप्त होने पर सम रहना, निन्दा स्तुतिको समान समझना, मान-अपमानमें समता बनाये रखना, मित्र और शत्रुमें समान भाव रखना, ऐसी समता प्राप्त करना हमें और तुम्हें लगभग असंभव सा लगता है। बड़ी भक्ति-भावनासे हम गीताको पढ़ते हैं और

फिर रख देते हैं। श्रीभगवानके वचनोंमें चाहे हमारी कितनी भी श्रद्धा हो—यह सब तो हमसे हो ही नहीं सकता—ऐसी भावना हमारी तुम्हारी होती है। भगवन ! आपने बड़ी अच्छी बातें बतायीं, पढ़ने में, सुनने में बड़ी अच्छी लगती हैं पर ऐसी समता तो प्राप्त होगी नहीं—ऐसी हमारी भावना होती है। पर गीता–जो सर्व साधारणके लिए—मनुष्यमात्रके लिए गायी गई है—कोई अनहोनी बात करनेको क्यों कहेगी ?

अध्यात्म विद्यालयमें हम और तुम दोनों कक्षा दो के विद्यार्थी हैं और यह स्थिति सुझायी गयी है उस समझदारको जिसने एम० ए० पास कर लिया है। जो स्त्री या पुरुष आध्यात्मिक जीवनके पाठ्यक्रममें आगे बढ़ते बढ़ते एम० ए० पास कर चुका है यह उसके समझने और आचरणका प्रयत्न करने की बात है। हमारे तुम्हारे ऐसे विद्यार्थी जो आध्यात्मिक जीवनकी कक्षा दो में पढ़ रहे हैं एम० ए० के विद्यार्थीका पाठ कैसे हृदयंगम कर सकते हैं ?

कक्षा दो में पढ़नेवाला कोई भी विद्यार्थी एम० ए० की पुस्तकें नहीं पढ़ सकता, नहीं समझ सकता। पर कक्षा दो का प्रत्येक विद्यार्थी श्रम-लगन और सतत प्रयाससे कक्षा दोसे तीन, चार, पाँच पास करते हुए आगे बढ़ते जाकर एम० ए० में पहुँच सकता है। हमलोग जो दिव्य-जीवनकी शुरूआत ही कर रहे हैं इतनी ऊँची बातोंकी शायद कल्पना भी न कर सकें। पर हम तुम और हमारी कक्षा दो में पढ़नेवाला प्रत्येक छात्र या छात्रा क्रमशः एम० ए० तक पहुँच जायगा।

श्रीभगवान गुणातीतकी स्थिति बता रहे हैं—कोई कल्पना-लोककी बातें नहीं कह रहे हैं। यह कोई खयाली पुलाव नहीं है। यह वस्तु स्थिति है, सत्य है, शक्य है पर इसे प्राप्त करनेमें दृढ़ संकल्प, सजीव श्रद्धा, तप संयम और प्रभुकृपा अपेक्षित है।

हमें और तुम्हें अपनी मर्यादा और सामर्थ दोनोंका ज्ञान होना चाहिए। हमारी तुम्हारी मर्यादा यह है कि हमलोग काम, क्रोध, लोभसे वशीभूत अनेक विकारोंसे ग्रस्त प्राणी हैं। हमारा शरीर नाशवान है और देर या सबेर उसका नाश निश्चित है। हमारी सामर्थ यह है कि हम उसी सर्वव्यापक ईश्वरके अंश हैं जो सभी प्राणियोंमें अविभक्त है और विभक्त–सरीखा भी विद्यमान है—अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। ईश्वर ही समस्त प्राणियोंके हृदयमें विद्यमान आत्मा है—अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। समस्त क्षेत्रों—शरीरोंमें स्थित

ईश्वर ही क्षेत्रज्ञ है—क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। हमारी कैसी दिव्य स्थिति है—कैसी सामर्थ है। हम उसी अविनाशी परमात्माके अंश हैं और अविनाशीके अंश होनेके कारण हम, हमारी आत्मा भी अविनाशी है। हमारा कभी नाश नहीं होता। कैसी स्थिति है हमारी—एक तरफ तो हमारा जीवन क्षणभंगुर पानीके बुलबुलेके समान अस्थायी और अस्थिर है और दूसरी तरफसे देखें तो हम सर्वव्यापक सर्वसमर्थ ईश्वरके अंश जिसको शस्त्र नहीं काट सकते, जिसको आग नहीं जला सकती "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः; जो नित्य है, सर्वव्यापी है, अचल और स्थिर रहनेवाला है"— नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। मरने और नष्ट होनेवाले देहमें रहने वाला सनातन आत्मा। कैसी अनुपम स्थिति है हमारी।

बापूजी ने इस स्थितिको समझाया है

"अपनी अल्पताका दर्शन करना महान बनने का आरम्भ है। अलग पड़ा हुआ समुद्र–विन्दु अपनेको समुद्र कहकर सूख जायगा। परन्तु अपनी विन्दुताको स्वीकार करे तो वह समुद्रकी ओर प्रयाण करेगा और उसमें लीन होकर समुद्र बन जायगा।"

"ईश्वर हमसे भिन्न है और अभिन्न भी है। भिन्न है क्योंकि वह सम्पूर्ण है, अभिन्न है क्योंकि हम उसके अंश हैं।"

हम समुद्रको एक बूँदके समान हैं— समुद्रसे एक बूँद कितना छोटा कितना क्षुद्र, पर फिर भी समुद्रका ही अंश—उसी अति विशाल समुद्रकी ही बूँद–उसके करोड़वें भागका भी करोड़वाँ भाग। बूँदको अंहकार नहीं होना चाहिये—समुद्रसे मिलने की लगन लगनी चाहिये। बूँदका पुरुषार्थ इसमें है कि वह प्रयत्न करके आगे बढ़ते हुए समुद्रमें समा जाय।

समय आनेपर ही हमें आत्मबोध होगा।

राजाका दो वर्षका एकलौता पुत्र एक खिलौनेके लिए रोता है। उसका खिलौना कोई छीन ले तो रोने लगेगा। उसके कानमें कोई सौ बार कहे कि एक छोटेसे खिलौनेके लिए क्यों रोते हो, यह सारा राज्य ही तुम्हारा है—तो क्या वह समझ जायगा ? समय आने पर ही–१२-१४ वर्षका होनेपर ही वह अपनी स्थितिको समझ सकेगा।

हमारी ऐसी स्थिति कब आवेगी जब हम अपने को समझ सकेंगे ? जब हम अनेक वर्षोंतक या अनेक शरीर धारण करते हुए सात्विक जीवन, निष्पाप जीवन, सेवामय जीवन बितावेंगे। हमारा और तुम्हारा यह

पहला जन्म तो है नहीं। कितने जन्म हम-तुम ले चुके हैं—और कितने जन्म आगे लेना है।

'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' और 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' की हम कल्पना न कर सकें यह वाजिब है। हम कक्षा दोमें पढ़ने वाले विद्यार्थीको तो अभी अपनेमें सत्वगुणका विकास करना है। कोई गाली दे तो सहन कर लेना है, दूसरेकी सम्पत्तिकी लालच नहीं रखना है, अप्रिय वचन नहीं बोलना है, माता-पिताकी सेवा करनी है, सुबह-शाम प्रार्थना करनी है, परनिन्दा नहीं करनी है, परस्त्रीको माता या बहनके समान समझना है, तृष्णाका त्याग करना है, दूसरेकी पीड़ाको समझना है, असत्य नहीं बोलना है और अपना जीवन परोपकारमें लगाना है या संक्षेपमें कहें तो पहले हमें नरसिंह मेहताके कहे अनुसार वैष्णव बनना है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे।
समदृष्टि ने तृष्णां त्यागी, परस्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहि जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे।
रामनामशुं ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे।
वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे।
भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करतां, कुल एकोतेर तार्या रे॥

पहले हम वैष्णव बनें—उसके बाद गुणातीत होनेके लिए प्रयत्न करेंगे।

पन्द्रहवाँ अध्याय

श्रीभगवानने इस अध्यायमें क्षर और अक्षरसे परे अपने पुरुषोत्तम स्वरूपका बोध कराया है ।

श्रीभगवानने कहा—यह विश्व एक अविनाशी पीपलके वृक्षकी तरह है। इसकी जड़ें ऊपरकी ओर हैं तथा शाखाएं नीचेकी ओर हैं। वेद इसके पत्तोंकी तरह हैं। ऐसे पीपलके वृक्षके रूपमें जो संसारको देखता है, वह वेदका जानने वाला है। इस वृक्षका उद्‌गम तो परमात्मा ही है इसीलिए इसकी जड़ें ऊपरकी ओर हैं और शाखाओंके रूपमें इसका फैलाव इस सृष्टिमें ही दृष्टिगोचर होता है, इसलिए इसकी शाखाएं नीचे की ओर कही गयी हैं।

पीपलके इस वृक्षको मनुष्य अनासक्ति रूपी मजबूत तलवारके द्वारा ही काट सकता है। अनासक्ति द्वारा इस वृक्षको काटकर उस आदि पुरुष की शरणमें जाय जिसने सारे विश्वको फैलाया है और उस पदको खोजे जिसे पानेवालेको पुनः जन्म-मरणके फेरमें नहीं पड़ना पड़ता ।

जिसने मान-मोहका त्याग किया है, जिसने आसक्तिसे होनेवाले दोषों को दूर किया है, जो आत्मामें नित्य निमग्न है, जिसके विषय शान्त हो गए हैं, जो सुख-दुःख रूपी द्वन्दोंसे मुक्त है वह ज्ञानी अविनाशी पदको पाता है ।

देहमें जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। जब यह जीवात्मा शरीर छोड़ता है या धारण करता है तब यह उसी तरह मनके साथ इन्द्रियोंको ले जाता है जैसे वायु गंधके स्थानसे गंधको साथ ले जाता है ।

सूर्यका जो तेज जगतको प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमामें है, जो अग्निमें है उन सबको तू मेरा ही तेज जान। अपनी शक्ति द्वारा शरीरमें प्रवेश करके मैं जीवोंको धारण करता हूं। प्राणियोंकी देहमें जठराग्नि बनकर मैं अन्नको पचाता हूं। मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे स्थित हूं।

इस संसारमें नाशवान और अविनाशी—क्षर और अक्षर—ये दो प्रकारके पुरुष हैं। सब प्राणियोंके शरीर तो नाशवान हैं और जीवात्मा अविनाशी है। इन दोनोंसे अन्य वह परमात्मा है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश

करके सबका धारण-पोषण करता है। परमात्मा क्षर और अक्षर दोनों से परे है। ईश्वर क्षेत्रसे तो अतीत है ही, अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम है, इसलिए लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध है। जो ज्ञानी पुरुषोत्तमको पहचानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे परमेश्वर को ही भजता है।

श्रीभगवानने कहा—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

मेरा ही सनातन अंश जीवलोकमें जीव होकर प्रकृतिमें रहनेवाली पाँच इन्द्रियों और मनको आकर्षित करता है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

इस लोकमें क्षर अर्थात् नाशवान और अक्षर अर्थात् अविनाशी दो प्रकारके पुरुष हैं। प्राणियोंके शरीर तो नाशवान हैं, उनमें रहनेवाला जीवात्मा अविनाशी है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी ईश्वर और परमात्मा कहा गया है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

मैं क्षर और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिए वेदों और लोकोंमें पुरुषोत्तम नामसे प्रख्यात हूँ।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविजद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

मोहरहित होकर जो पुरुष मुझ पुरुषोत्तमको इस प्रकार जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सर्वभावसे मुझे ही भजता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥

इस प्रकार यह अति गूढ़ शास्त्र मैंने कहा। इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान बनता है और उसका जीवन सफल हो जाता है।

तुमने गीता पन्द्रह अध्याय तक ध्यानसे सुना। अब सोलहवें अध्याय का मनन करनेके पहले तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देनेका प्रयत्न करूंगा। तुम प्रश्न लिखकर मुझे दे दो।

तुम्हारा पहला प्रश्न है—"जब आत्मा ईश्वरका ही अंश है तब उसमें शुरू-शुरूमें विकार कैसे प्रवेश कर गया और मलिनताने आत्माकी निर्मलताको कब और कैसे धूमिल कर दिया, जिस कारण उसे शरीर धारणकर विकार मुक्त होनेका महान प्रयत्न करना पड़ता है, जिससे वह पुनः ईश्वरमें समा सके।"

टाल्स्टायने "मेरी मुक्तिकी कहानी" नामक पुस्तकमें लिखा है—"एक भिखारीको सड़कसे पकड़कर सुन्दर भवनमें ले जाकर रखा गया और उसे अच्छी तरह खिलाया गया, फिर उसे ऊपर-नीचे एक हैंडिल घुमानेका काम दिया गया। यदि वह भिखारी बहस करने बैठ जाय कि क्यों उसे यहाँ लाया गया, क्यों उसे हैंडिल घुमाना चाहिये, ऐसा करनेसे क्या फायदा, तो स्पष्ट है कि मकान मालिक उस पर नाराज होगा कि बढ़िया भोजन तो कर लिया अब काम करनेके समय बहस करने बैठा है। उसे तर्क करनेमें समय बर्बाद न करके हैंडिल घुमाना चाहिये। जब वह हैंडिल घुमायेगा तो उसे स्वयं पता चल जायगा कि इसके जरिये एक पंप चलता है। पंपके द्वारा पानी निकलता है और उस पानीसे बागकी सिंचाई होती है। तब वह पम्पिंग स्टेशनसे दूसरी जगह ले जाया जायगा, वहाँ फल चुनकर इकट्ठे करेगा और अपने मकान मालिकके सुखमें साझीदार होगा। इस तरह धीरे-धीरे उन्नति करते हुए और छोटे कार्योंसे बड़े कार्योंको करते हुए वह दिन-रात वहाँकी व्यवस्थाकी अधिक जानकारी प्राप्त करता जायगा। इस तरह जब वह स्वयं वहाँकी व्यवस्थामें भाग लेने लगेगा तो उसके मनमें यह प्रश्न करनेका विचार ही न उठेगा कि वह वहाँ क्यों लाया गया है और उसे हैंडिलको क्यों घुमाना चाहिये।

इसी तरह सीधे-साधे श्रमिक और किसान ईश्वरकी इच्छाका पालन करते हैं—अनेक प्रकारके कुतर्क नहीं करते। लेकिन हम बुद्धिमान बननेवाले लोग ईश्वरका दिया भोजन तो कर लेते हैं पर ईश्वरके बताए मार्गपर नहीं चलते

उलटे एक गोलमें बैठकर वहस करते हैं 'क्यों हमें उस हैंडिलको घुमाना चाहिये, हमें यहाँ क्यों लाया गया है ?''

टाल्स्टाय कहते हैं—''विश्व-जीवन किसीके संकल्पसे चल रहा है। सारे विश्वके जीवन और हमारे जीवनसे कोई अपना तात्पर्य सिद्ध करता है। उस संकल्प शक्तिका अर्थ समझनेकी आशा करनेके पहले हमसे जिस कार्यकी आशा की जाती है, उसे करना चाहिये।''

मैं समझता हूँ इस लघु आख्यानसे तुमको तुम्हारे प्रश्नका उत्तर मिल गया होगा। यह संसार अनादि और अनन्त है। इस तरहके प्रश्न करनेसे समस्या कभी सुलझेगी नहीं। इसी तरहका एक दूसरा प्रश्न है कि पहले बीज उत्पन्न हुआ या फल। जितनी चाहे बहस करो कोई अन्तिम हल नहीं निकलेगा।

इसलिए मुझे और तुम्हें चाहिये कि सन्तोंने, गीताने जिस जीवन-पथका निर्देश दिया है उस पर सतत चलनेका प्रयत्न करें, अपनेमें सत्व-गुणकी वृद्धि करते हुए अपनेको सेवाकार्यमें लगाए रखें, तब इस तरहके प्रश्न मनमें उठेंगे नहीं। प्रभुकी सृष्टिके सारे रहस्यको मेरे-तुम्हारे ऐसे साधारणजन कैसे जान सकते हैं ?

प्रश्न २—''गीता-माताका इतना मनन करनेपर यह बात तो समझमें आ गयी कि गीता अनासक्त बननेको कहती है, फलकी इच्छा न रखते हुए कर्तव्य कर्म करनेको कहती है, सुख-दुःखमें समान रहनेको कहती है और जीवन यज्ञमय—सेवामय बनानेकी आज्ञा देती है। पर दैनिक जीवनमें इस प्रकारका आचरण अत्यन्त कठिन और असंभव सा लगता है। जब हम देखते हैं कि कथावाचक, उपदेशक, गेरुआ वस्त्रधारी और मठके आचार्य, मन्दिरके पुजारी धर्मकी दिन-रात चर्चा करते हुए भी प्रायः तरह-तरहके भोगोंमें रुचि रखते हैं, उनकी कथनी और करनीमें बड़ा अन्तर दीखता है, तब धर्मग्रन्थों परसे श्रद्धा उठ जाती है। जब धर्मका उपदेश देनेवाले ही उसे आचरणमें नहीं उतार सकते तो मेरे जैसे साधारण युवकके लिए ये सब बातें मनोहर होते हुए भी क्या दुर्गम नहीं हैं ? क्या अनासक्ति प्राप्त करनेका रास्ता बहुत लम्बा और थका देने वाला नहीं है ?''

तुम्हारा यह प्रश्न उपयुक्त है और साधारणतः साधकके मनमें उठा करता है।

अनासक्त रहकर जीवन व्यतीत करना—सुख-दुःखमें सम रहना और फलकी इच्छा न रखते हुए कर्तव्य कर्म करते रहना यह बहुत कठिन है, पर सुगति पानेका इससे छोटा दूसरा रास्ता भी तो नहीं है। यदि स्थान क से स्थान ख की सीधी दूरी दस हजार किलोमीटर हो और क से ख तक जाना हो तो दस हजार किलोमिटर तो चलना ही पड़ेगा। टेढ़े रास्तेसे तो क से ख की दूरी दस हजार किलोमीटरसे ज्यादा ही ठहरेगी। जीवनमें आनन्द पानेका और किसी भी स्थितिमें बिना ऊबे हुए जीनेका सीधा रास्ता गीताजीने बताया है—अनासक्ति।

नाडीविकार, चिन्ता, मानसिक रोग, अस्थिरता, अशान्ति, उदासी और निराशासे ग्रस्त मनुष्योंकी संख्या करोड़ोंमें है। प्रायः मनुष्य जीवन की गुत्थियोंको सुलझा नहीं पाता, तनावको ढीला नहीं कर पाता। उदास और चिन्तित हो उठता है। जीवन बोझा हो जाता है। अक्सर तनाव, अस्थिरता इतनी बढ़ जाती है कि आत्महत्या कर बैठता है।

इस तनावसे मुक्ति पानेका उपाय गीता बताती है—"सुख दुःखे समे कृत्वा", "समः शत्रौ च मित्रे च", "संतुष्टो येन केनचित्"। गीता कहती है तुम समता लाओ। जो कुछ प्राप्त हो उसमें सन्तुष्ट रहो। दुःखको सहन करो और सुखको भी सहन करो। अनासक्त होनेकी साधना करो। पवित्र जीवन बिताओ। उठो। अपनेको पहचानों।

सभी कथावाचक, उपदेशक, गेरुआ वस्त्रधारी और मठके आचार्य भोगमें ही रुचि रखते हैं तथा उनकी कथनी और करनीमें बहुत अन्तर रहता है ऐसी बात नहीं है, हाँ, यह बात कबूल करनी पड़ती है कि अधिकतर भोगसे विराग नहीं कर पाते। पर मेरे जैसा साधारणजन जो स्वयं अनेक विकारोंसे ग्रस्त है उनकी आलोचना कैसे कर सकता है? उनकी कमजोरी देखनेके पहले हम अपनेको तो सुधारें।

तुम्हें एक बात स्पष्ट समझना चाहिये। जो तुम्हें कथा सुनाता है, मन्दिरकी सफाई और मूर्तिका शृंगार करता है, मठकी व्यवस्था करता है, तुम्हें तरह-तरहके कर्मकाण्ड बताता है, तुम्हारी तरफसे मन्दिरमें जप करता है, विवाहमें श्लोक और मंत्र पढ़कर लग्न कराता है, वे सब उसी तरह अपना पेशा करते हैं जैसे एक लोहार छेनी बनाता है, चर्मकार जूता बनाता है, दफ्तरी पुस्तककी जिल्द बनाता है, कुम्हार मिट्टीके बर्तन बनाता है, टाइपिस्ट टाइप करता है और दर्जी कपड़े सीता है।

कोई दर्जी सुन्दर कपड़ा सीये तो तुम उसे बहुत उत्तम चरित्रवान मान लोगे ? ऐसे ही जो कथावाचक, जो उपदेशक तुम्हें धर्मज्ञानकी सुन्दर कथाएँ रोचक ढंगसे सुनाए, जो मन्दिरमें मूर्तिको सुन्दर सजाये उसकी तुम प्रशंसा करो पर यह आशा मत करने लगो कि उसका व्यक्तिगत जीवन संयमित और पवित्र होगा ही। जो ऐसी आशा करके उन कथावाचक या उपदेशककी वन्दना करने लगते हैं, वे जब उनमें विकार देखते हैं तो ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि धर्मग्रन्थ परसे ही विश्वास डिगने लगता है। वे कथावाचक, पुजारी, महन्थ, मण्डलेश्वर भी हमारी तुम्हारी तरह मनुष्य हैं जिन्हें विकार जीतनेमें समय लग सकता है। जो लक्ष्यसे बहुत दूर हैं, अस्थिरचित्त हैं, जिनकी कथनी-करनीमें बहुत अन्तर है उनको देखकर हताश या उदास मत हो जाओ। उनकी ओर देखकर आगे कदम बढ़ाओ जो लक्ष्यके निकट पहुँच चुके हैं, जो सुख-दुःखमें सम रह पाते हैं, जिन्होंने विकारों पर विजय पायी है, जो स्थिर-चित्त हैं।

प्रश्न ३—"क्या आपने ऐसे किसी महापुरुषका दर्शन किया है जिसकी जीवनचर्या गीतामें वर्णित स्थितप्रज्ञ तथा गुणातीतके लक्षणोंके अनुरूप हो ?"

मेरा सौभाग्य है कि मुझे ऐसे महापुरुषके दर्शन हुए हैं जिसने स्थित प्रज्ञ और गुणातीत होनेका महान प्रयत्न किया और जो आध्यात्मिक जीवनकी लगभग उस ऊंचाई तक पहुंचा जिस ऊंचाईतक गीता मनुष्यको ले जाना चाहती है। उस स्थितप्रज्ञका नाम है महात्मा गांधी। गांधीजी प्राणिमात्रके प्रति द्वेषरहित, सबके मित्र, ममतारहित, भयरहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखमें समान, सदा सन्तोषी, इन्द्रियनिग्रही और दृढ़-निश्चयी थे। मनमें उठने वाली समस्त कामनाओंको उन्होंने त्याग दिया था। वे खादीधारी थे, हरिजन-सेवक थे और सब धर्मोंके प्रति उन्हें सम-भाव था। सत्य और अहिंसाके पुजारी थे। सत्याग्रही थे और उनका विश्वास था कि उत्तम साध्यकी प्राप्ति उत्तम साधनसे ही हो सकती है। वे सतत जागरूक थे। रामके भक्त थे और मानव सेवाको रामकी सेवा मानते थे। उनका जीवन कर्ममय, त्यागमय और सेवामय था। वे अनासक्त थे। वे निर्वैर थे, समाधिस्थ थे और विगतज्वर थे। गांधीजीके जीवनकी अनुपम पवित्रता, अलिप्तता और सरलतासे प्रभावित होकर महान वैज्ञानिक आईन्स्टीनने कहा था 'आनेवाली पीढ़ियां बड़ी मुश्किल

से यह विश्वास करेंगी कि गांधीजी जैसा हाड-मांसका व्यक्ति वास्तवमें कभी इस पृथ्वीपर हुआ था।'

मानव जीवनकी सर्वोच्च ऊंचाईपर कदम रखकर उन्होंने सर्वसाधारणको भरोसा दिलाया कि तुम भी वहाँतक पहुँच सकते हो।

गांधीजीने कहा है—

"मैं एक मामूली आदमीसे अधिक ऊँचा होनेका दावा नहीं करता। मुझमें उससे भी कम योग्यता है जितनी सामान्य मनुष्यमें होती है। मेरे इस अहिंसा और ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनमें भी कोई बधाई देने लायक बात नहीं, क्योंकि ये तो वर्षोंके निरन्तर प्रयाससे मेरे लिए साध्य हुए हैं। मुझे तो इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि मैंने जो सिद्धि प्राप्त की है उसे हर पुरुष और हर स्त्री प्राप्त कर सकती है, बशर्ते कि वह भी मेरी ही तरह प्रयत्न करे और अपने मनमें मेरी-जैसी ही आशा और आस्था लेकर चले। आस्थाहीन कार्य अगाध समुद्रकी थाह लेनेका प्रयत्न करने जैसा है।"

"ईश्वरको पानेका एकमात्र उपाय यह है कि उसे उसकी सृष्टिमें देखा जाय और उसके साथ एकता अनुभव की जाय। यह सबकी सेवासे ही हो सकता है। मैं सम्पूर्णका एक अविभाज्य अंग हूँ और उसे शेष मानवतासे अलग नहीं पा सकता। मेरे देशवासी मेरे निकटतम पड़ोसी हैं। मुझे उनकी सेवामें अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिये। अगर मुझे विश्वास हो जाय कि मैं ईश्वरको हिमालयकी किसी गुफामें पा सकता हूँ, तो मैं तुरन्त वहांके लिए चल पड़ूंगा। परन्तु मैं जानता हूँ कि मैं उसे मानवतासे अलग कहीं नहीं पा सकता।"

तुम उनके पार्थिव शरीरका दर्शन भले ही न कर सको पर उनके वाङ्मयसे, उनकी जीवनीसे और उनके निकटके साथियों द्वारा लिखी उनकी जीवनचर्यासे तुम्हें उनके नित्य दर्शन प्राप्त होते हैं। उन्होंने 'सत्यके प्रयोग' नामसे अपनी आत्मकथा लिखी है। पचीस वर्षसे अधिक समयतक उनके समीप रहनेवाले महादेवभाई देसाईने अपनी डायरीमें गाँधीजीके दैनिक जीवन, खान-पान, उठने-बैठने, और उनकी समस्त प्रवृत्तियोंका बारीकीसे वर्णन किया है। गाँधीजी किससे मिले, कहाँ बैठे, क्या किया? काम, क्रोध, लोभ और मोहका अवसर आनेपर उन्होंने कैसे कछुएके समान अपनी इन्द्रियोंको समेट लिया इसका सजीव-सच्चा चित्रण महादेवभाईने किया है। भारत सरकारके प्रकाशन विभागसे सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मयका अनेक खण्डोंमें प्रकाशन हुआ है। इसके अति-

रिक्त सैकड़ों पुस्तकें गाँधीजीको जानने और समझनेके लिए उपलब्ध हैं—जिनका मनन कर तुम यह देख सकते हो कि एक स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता, बैठता और चलता था।

गाँधीजी ही एकमात्र स्थितप्रज्ञ थे ऐसी मेरी मान्यता नहीं है। स्थितप्रज्ञ हमेशा हुए हैं, और होते रहेंगे। मुझे गाँधीजीके जीवनको निकटसे अध्ययन करने और समझनेका अवसर मिला है। इसलिए मैंने उन्हीं महात्माकी वन्दना की है।

■

सोलहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन है। श्रीभगवानने कहा—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

अभय, अंतःकरणकी शुद्धि, ज्ञान और योगमें निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, अपैशुन, भूतदया, अलोलुपता, मृदुता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और निरभिमान इतने (२६) गुण उसमें होते हैं जो दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुआ है।

दम अर्थात इन्द्रिय निग्रह, अपैशुन अर्थात किसीकी चुगली न करना, अलोलुपता अर्थात लालसा न रखना, तेज अर्थात प्रत्येक प्रकारकी हीन-वृत्तिका विरोध करनेका जोश।

दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान ये दुर्गुण आसुरी सम्पत् लेकर जन्मनेवालोंमें होते हैं।

जो अपनेमें नहीं वह दिखाना दंभ है ढोंग है; दर्प अर्थात घमण्ड या दूसरोंका तिरस्कार करनेकी भावना।

विनोबाजी 'गीता-प्रवचन' में कहते हैं—

"हमारे अंतःकरणमें एक ओर सद्गुण तो दूसरी ओर दुर्गुण खड़े हैं। उन्होंने अपनी-अपनी व्यूहरचना ठीक-ठीक कर रखी है। सेनामें जिस प्रकार सेनापति आवश्यक है वैसे यहाँ भी सद्गुणोंने एक सेनापति बना रखा है। उसका नाम है 'अभय'। इस अध्यायमें अभयको पहला स्थान दिया गया है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है। जान-बूझकर ही इस 'अभय' शब्दको पहला स्थान दिया होगा।

बिना अभयके कोई भी गुण पनप नहीं सकता। सच्चाईके बिना सद्‌गुणका कोई मूल्य नहीं है। किन्तु सच्चाईके लिए निर्भयता आवश्यक है। भयभीत वातावरण में सद्‌गुण फैल नहीं सकते। बल्कि उसमें वे भी दुर्गुण बन जायंगे। सत्प्रवृत्तियाँ भी कमजोर पड़ जायंगी। निर्भयता सब सद्‌गुणोंका मुख्य नायक है। परन्तु सेना को आगे-पीछे दोनों तरफ संभालना पड़ता है। सीधा हमला तो सामनेसे होता हैं, परन्तु पीछेसे चुपचाप चोर-हमला भी हो सकता है। सद्‌गुणोंके सामने 'अभय' खम ठोंककर खड़ा है, तो पीछेसे 'नम्रता' रक्षा कर रही है। इस तरह यह बड़ी बढ़िया रचनाकी गई है। यहाँ कुल छब्बीस गुण बताये गये हैं। इनमें ये पच्चीस गुण प्राप्त हो गये व यदि कहीं उसका अहंकार हो गया तो पीछेसे एकाएक चोर-हमला होकर सारी कमाई खो जानेका भय है। इसलिए पीछे 'नम्रता' सद्‌गुणको रखा गया है। यदि नम्रता न हो तो यह जय कब पराजयमें परिणत हो जायगी, यह ध्यानमें भी नहीं आवेगा। इस तरह सामने 'निर्भयता' व पीछे 'नम्रता' को तैनातकरके सब सद्‌गुणोंका विकास किया जा सकेगा। इन दो महान गुणोंके बीचमें जो चौबीस गुण रख गये हैं वे करीब सब अहिंसाके ही पर्यायवाची हैं ऐसा कहें तो अनुचित नहीं। भूत-दया, मार्दव, क्षमा, शांति, अक्रोध, अद्रोह ये सब अहिंसाके ही दूसरे नाम हैं। अहिंसा व सत्य इन दो गुणों में सब सद्‌गुणोंका समावेश हो जाता है। सब सद्‌गुणोंका यदि संक्षेप किया जाय तो अंतमें अहिंसा व सत्य यही दो बाकी रह जायंगे। शेष सब सद्‌गुण इनके उदर में समा जायंगे। परन्तु निर्भयता और नम्रताकी बात जुदा है। सत्य व अहिंसाका विकास निर्भयता व नम्रताके द्वारा होता है।"

अभिमान महापापी है—मौका पाते ही साधकको पछाड़ देता हैं। हम सब साधारणजन अहंकारसे त्रस्त हैं। परीक्षामें प्रथम आ गये तो अभिमान। चेहरा सुन्दर है तो अभिमान। दूसरे युवकोंसे बढ़िया पैन्ट, कमीज पहने हैं तो अभिमान। सिनेमा-नाटकमें अधिक मूल्यवाली सीट पर बैठे हैं तो अभिमान। अखबारमें चित्र छप गया तो अभिमान। क्लास टीचर विशेष मान करते हैं तो अभिमान। किसी संस्थाके अध्यक्ष, सेक्रेटरी हो गये तो अभिमान। ससुराल पैसेवाला मिल गया तो अभिमान। कहीं मानपत्र मिल गया तो अभिमान। किसीने प्रशंसा कर दी तो अभिमान। अभिमानमें हम साधारणजन थपेड़े खाते डूबते-उतराते रहते ही हैं। पर इस अभिमानने संतोंको, भक्तोंको भी नहीं छोड़ा। नारदजी विष्णुके अनन्य भक्त और ज्ञानी थे। फिर भी एकबार बुरी तरह अहंकारकी चपेटमें आ गये।

नारदजी हिमालय पर्वत पर गंगाजीके किनारे तपस्या कर रहे थे।

उनकी तपस्या भंग करने और उनके हृदयमें काम-वासना उपजानेके लिये कामदेवने विविध विघ्न उपस्थित किये पर कोई भी विघ्न-बाधा नारद-जीकी समाधि नहीं भंगकर सकी। समाधि छूटने पर और यह ज्ञात होने पर कि कामदेव भी मेरा मन चलायमान नहीं कर सका नारदजीको अहंकार हो गया। सामनेसे नारदजीकी जीत हो गई—अब पीछेसे-चोर दरवाजेसे हमला हो गया। गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें इस कथाका बड़ा सुन्दर और रोचक वर्णन किया है। उसे जरूर पढ़ना। संक्षेपमें तुम्हें सुना देता हूँ।

नारद शिवके पास गये और अपनी अखंड तपस्या वाली बात कही। शिवजीके मना करने पर भी विष्णुके पास गये और उनसे भी अपनी निर्विघ्न तपस्याकी बात कही। भगवान हरिने खूब ध्यानसे सुना और नारदकी प्रशंसा की। नारदका अहंकार बढ़ गया—'अब मेरे समान जितेन्द्रिय कौन है।' श्रीभगवान समझ गये कि मेरा भक्त नारद भी अहंकारकी व्याधिसे पीड़ित हो गया है तो उपायकर इसे व्याधि-मुक्त करना होगा।

नारदजी भगवानको प्रणाम कर चले—उनका अहंकार बढ़ गया था। श्रीभगवानने अपनी मायाको प्रेरित किया। नारदको रास्तेमें एक सुन्दर नगर मिला जिसका राजा शीलनिधि था। उसकी विश्वमोहिनी नामक अत्यन्त रूपवान, गुणवान कन्या थी जिसके स्वयंवरकी तैयारी हो रही थी। कौतुकप्रिय मुनि भी उस स्वयंवरमें पधारे और विश्वमोहिनीके रूप और गुणको देखकर अपनापन खो बैठे। विश्वमोहिनीमें अद्वितीय रूप तो था ही, गुण यह था कि जो उसका पति होगा वह अमर हो जायगा और चर-अचर जीव उसकी सेवा करेगें। ईश्वरकी मायासे नारद उस कन्या को पाने और उससे विवाह करनेको लालायित हो गये। नारदके पास न रूप था न सम्पत्ति। बाबाजी बने जगतमें घूमते थे। अब क्या करें? विचार आया कि श्रीभगवानके पास चलें और उन्हींसे रूप, ऐश्वर्य माँग लावें तो यह कन्या मुझे मिल जाय। निर्मल भक्त थे, श्रीभगवानका ध्यान किया तो भगवान प्रकट हो गये। नारदने अपने मनकी बात कही। श्रीभगवानने उत्तर दिया—

जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥

श्रीभगवानने गूढ़ बात कह दी कि नारद तुम्हारा हित होगा वही हम करेंगे। नारद मोह-मायामें फँसे थे। श्रीभगवानकी बातका तात्पर्य

समझे नहीं और यह समझकर कि अब अनुपम रूप मिल गया स्वयंवरमें वापस आये। भगवानने मुनिका हित करनेके लिए उनका बन्दरका मुंह बना दिया था। नारदजी उचक-उचक कर कन्याकी ओर देख रहे थे और सोच रहे थे कि मुझे ही जयमाला पहनावेगी। विश्वमोहिनी इस कुरूपको देखकर चिढ़ गयी। जिधर नारद बैठे थे उधर गयी भी नहीं। श्रीभगवान राजकुमारका रूप धारणकर स्वयं पधारे थे। विश्वमोहिनीने उन्हें ही जयमाल पहना दी। नारद बहुत व्याकुल हुये। उसी स्वयंवरमें शिवजीके दो गण उपस्थित थे, वे नारदकी व्याकुलता देखकर खूब हँसे और बोले जाकर अपना मुँह तो देखो। मुनिने जाकर जब अपना मुँह बन्दरके समान देखा तो उनका क्रोध बढ़ गया और उन्होंने गणको श्राप दे दिया कि तुम राक्षस हो जाओगे। फिर नारदजी भगवानके पास गये–उन्हें भी श्राप दे दिया। जब भगवानने अपनी माया हटा ली तब नारद को होश हुआ कि यह सब नगर, शीलनिधि राजा, विश्वमोहिनी राजकुमारी मायाकृत थे। उन्होंने श्रीभगवान्‌के चरणोंमें बार-बार प्रणाम किया और उनका अहंकार मिटा। बालकाण्डमें गोस्वामीजीने इस कथाका सरस वर्णन किया है। तुम पूरी रामचरितमानस पढ़ना।

इस कथाका उद्‌देश्य क्या है? यही कि हम नम्र बनें। जो कुछ प्राप्त हो उसे ईश्वरकी कृपासे प्राप्त मानकर अभिमान न करें। नारद ऐसे भक्त भी जरा असावधानीसे अहंकारके पाशमें बंध जाते हैं तो मेरे-तुम्हारे लिए निरन्तर सावधान रहना ही हितकर है।

श्रीभगवानने कहा—दैवी सम्पदा मोक्ष दिलाने वाली और आसुरी सम्पदा-बन्धनमें डालने वाली कही जाती है। अर्जुन तू शोक न कर क्योंकि तू दैवी सम्पदा लेकर जन्मा है।

श्रीभगवानने अर्जुनके माध्यमसे उन सभी मनुष्योंको शोक या विषाद न करनेका आदेश दिया है जो दैवी सम्पदाको लेकर जन्मते हैं। हर देश और हर धर्मके लाखों लोग दैवी सम्पदाको लेकर जन्मते हैं। तुम कैसे निर्णय करोगे कि तुम दैवी सम्पदाको लेकर जन्मे हो या नहीं। श्रीभगवानके बताये छब्बीस गुण जिन्हें प्रिय लगते हों, जिनका मन इन गुणोंकी ओर आकर्षित होता हो, जो इन गुणोंको धारण करनेका प्रयत्न करते हैं और बार-बार चूकने पर, गुमराह होने पर भी पुनः उन्हीं गुणोंकी ओर दृष्टि लगाये रखते हैं और धीरे-धीरे एक-एक कदम पवित्र जीवनकी ओर बढ़ाते हैं, कहना चाहिए कि उन्होंने दैवी सम्पद.को लेकर जन्म लिया है।

श्रीभगवानने कहा—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ।।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।।

आसुरी प्रवृत्तिवाले कहते हैं जगत असत्य, निराधार और ईश्वर-रहित है । केवल नर-मादाके सम्बन्धसे जीवकी उत्पत्ति होती है । उसमें विषय-भोगके सिवा और क्या हेतु हो सकता है ? वे प्रलयपर्यंत अन्त ही न होने वाली ऐसी अपरिमित चिन्ताका आश्रय लेने वाले, विषय-भोगोंके भोगनेमें तत्पर रहनेवाले और भोग ही सर्वस्व हैं ऐसा माननेवाले होते हैं । वे सैकड़ों आशाओंके जालमें फँसे हुये, कामी, क्रोधी, विषय-भोगके लिए अन्यायपूर्वक धनसंचयकी चाह रखते हैं ।

आज मैंने यह प्राप्तकर लिया है और अब इस मनोरथको पूरा करूँगा, मेरे पास इतना धन है, फिर कल इतना और मेरा हो जायगा—इस प्रकार चिन्तन करते रहते हैं ।

आज यह पाया और कल वह प्राप्त करूँगा ऐसी दुराशासे सुबह-शाम बेचैन रहने वाले लोभी मनुष्य अपनी जीवनकी बाजी किस प्रकार हार बैठते हैं इसका सुन्दर चित्रण टालस्टायने अपनी एक कहानी—'एक आदमी को कितनी जमीन चाहिए' में किया है ।

संक्षेपमें कहानी तुम्हें सुना देता हूँ—

मजीदके पास खेती योग्य भरपूर उपजाऊ जमीन, गाय, बैल थे । उसे खाने की पहननेकी कोई कमी न थी बल्कि जरूरतसे बहुत अधिक था । पर लोभरूपी शैतान उसका पीछा किये हुये था । अधिकसे अधिक जमीन प्राप्त करनेकी उसकी लालसा थी । अपनी सम्पत्ति, अपनी जमीन बढ़ानेकी उधेड़बुनमें वह सदा लगा रहता था और जो प्राप्त था उसका भोग नहीं कर पाता था ।

उसे पता लगा कि सुदूर प्रदेशका राजा कुछ शर्तोंके साथ एक हजार मुद्रामें बहुत-अधिक जमीन देता है। मजीद अपना गाँव, अपना परिवार छोड़कर सुदूर प्रदेशके राजाके पास पहुँचा और उसकी शर्त पूछी।

राजाने कहा—हम एक दिनकी एक हजार मुद्रा लेते हैं। सूर्योदयसे सूर्यास्त तक जितना बड़ा चक्कर कोई मनुष्य काट ले, उतनी ही जमीन उसकी हो जायगी।

मजीद—एक दिनमें तो मनुष्य बड़ा भारी चक्कर काट सकता है।

राजा—हाँ तो क्या हुआ? शर्त यह है कि सूर्योदय होने पर जहाँसे चलोगे सूर्यास्तके पहले-पहले तुम्हें वहीं आ जाना पड़ेगा। अगर सूर्यास्त तक नहीं पहुँच सकोगे तो रुपया जब्त हो जायगा।

मजीद—चक्करका चिह्न कौन लगावेगा?

राजा—तुम एक कुदाल लेते जाना और निशान बनाते जाना।

मजीद बहुत खुश हुआ। रातको उसे नींद भी कम आई। यही सोचता रहा कि बड़ेसे बड़ा चक्कर काटकर बड़े क्षेत्रका मालिक बनेगा।

दूसरे दिन सूर्योदय होते ही मजीद अपना भोजन बाँधकर कुदाली हाथमें ले जमीनका चक्कर काटने निकल पड़ा। चलनेवाले स्थानपर उसने निशान लगा एक छड़ी खड़ी कर दी।

मजीदने अपनी सामर्थसे कहीं बड़ा घेरा नापना चाहा और खूब तेज चलने लगा। सूर्यकी गर्मी तेज हो रही थी, दोपहरमें कुछ मिनट ही रोटी खानेके लिए रुका। रोटी खाया, पानी पीया और फिर तुरन्त तेजीसे चल पड़ा। तृष्णाका भूत सिर पर सवार था। जितना नाप लेंगे मेरा हो जायगा। चलते-चलते दूर निकल गया। फिर ध्यान आया कि सूर्यास्तके पहले छड़ी तक वापस पहुँचना है। चाल तेज की। सूर्यास्तका समय हो आया—अभी अधिक चलना बाकी था। अब दौड़ने लगा। दौड़ते-दौड़ते छाती लोहारकी धौकनी बन गयी। उसका हृदय धड़कने लगा। उसकी टाँगे लड़खड़ाने लगीं। पर अब रुकनेसे सब धरती हाथसे निकल जायगी—और रुपया भी जब्त हो जायगा। दौड़ता रहा-दौड़ता रहा। पाँव घायल हो गये। मुँह सूख गया, फिर भी चलता रहा। अन्तमें छड़ी दिखाई दी और सूर्यभी अस्त होने लगा। खूब जोरसे दौड़ लगाई। छड़ीके पास पहुँचते-पहुँचते मुँहके बल पृथ्वी पर गिर पड़ा। गिरते हुये उसका हाथ छड़ी पर जा लगा।

लोग उसे उठाने लगे तो देखा मजीदके मुँहसे रुधिरकी धारा बह रही है

और वह मरा पड़ा है। लोगोंने वहीं जमीन खोदकर उसे दफना दिया। सबको विदित हो गया कि मजीदको केवल दो मीटर जमीनकी आवश्यकता थी।

तब क्या करे मनुष्य ? अगर खाने-पीनेको भरपूर है तो आगे उद्यम न करे, आलसी होकर बैठ जाय ? न आलसी होकर बैठे न केवल आमोद-प्रमोदमें जीवन बितावे। अपनी शक्ति और योग्यताका एक अंश उन कमजोर वर्गकी निःस्वार्थ सेवामें लगावे जिनके पास जीवन-यापनके भरपूर साधन नहीं हैं और जिनकी मानसिक या शारीरिक योग्यता भी नहीं है कि वे अपने पैर पर खड़े हो सकें।

समर्थ स्त्री-पुरुषोंको अपनी अतिरिक्त सामर्थ्यका उपयोग जनहितमें करना चाहिए। इससे जनताका हित तो होगा ही उनका हित भी होगा। अधिक संग्रहकर वे उसका व्यय राग-रंगमें करके अपनेको सुखी करनेका असफल प्रयत्न करते हैं। भोगसे भोगकी कामना मिटती नहीं।

स्वार्थ-वश ही मनुष्य अपनी सामर्थ्यसे बड़ा घेरा बनाकर चलता है और मरता है। निःस्वार्थ सेवामें मन लगावेगा तो अपनी सामर्थ्यसे बड़ा घेरा बनाकर दुःख नहीं पावेगा।

श्रीभगवानने कहा—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।

काम, क्रोध और लोभ मनुष्यको विनाशकी ओर ले जाते हैं। आत्माका नाश करनेवाले नरकके ये तीन दरवाजे हैं। इन तीनोंका त्याग करना चाहिए। इन त्रिविध नरक द्वारसे दूर रहनेवाला मनुष्य अपने कल्याणका आचरण करता है और परमगतिको पाता है।

जो शास्त्रविधिको छोड़कर मनमाना आचरण करने लगता है, उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख, न उत्तम गति मिलती है, इसलिए कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेमें शास्त्रको प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करना उचित है।

बापूजी कहते हैं—"शास्त्रविधिका अर्थ धर्मके नामसे माने-जाने वाले ग्रन्थोंमें बतलाई हुई अनेक क्रियाएँ नहीं, बल्कि अनुभव-ज्ञानवाले सत्पुरुषोंका अनुभव किया हुआ संयम-मार्ग है।"

सत्रहवाँ अध्याय

अर्जुनने पूछा—शास्त्रविधिको छोड़कर भी जो श्रद्धासे ही पूजा इत्यादि करते हैं उनकी निष्ठा कैसी होती है—सात्विक, राजसी या तामसी ?

श्रीभगवान्‌ने कहा—मनुष्योंकी श्रद्धा उनके स्वभावके अनुसार तीन प्रकारकी होती है—सात्विक, राजसिक, तामसिक।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

व्यक्तिकी श्रद्धा उसके स्वभावका अनुसरण करती है। मनुष्य श्रद्धामय है। जैसी जिसकी श्रद्धा, वैसा ही वह होता है।

सात्विक मनुष्य देवताओंकी, राजस यक्ष-राक्षसोंकी और तामस भूत-प्रेतादिकी उपासना करते हैं। तमोगुणी दिखावेमें विश्वास करते हैं। वे विधिरहित अनावश्यक घोर तप करते हैं। दम्भ और अहंकारसे भरे ये लोग शरीरमें स्थित अन्तर्यामीको भी कष्ट देते हैं।

पूज्य बापूजी एक पत्रमें कहते हैं—"जिनके लिए त्यागमें ही भोग है, उनको हर स्थितिमें त्यागका अवसर खोजना है और त्यागके लिए तो असीम क्षेत्र है। पर, त्याग ऐसा नहीं होना चाहिए कि कमर ही टूट जाये। ऐसा त्याग त्याज्य है।"

आहार भी तीन प्रकारका होता है। यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकारके होते हैं। आयु, बल, आरोग्य और सुखको बढ़ानेवाले रुचिकर और पौष्टिक आहार सात्विक मनुष्योंको प्रिय होते हैं। तीखे, खट्टे, बहुत गरम, चरपरे, दाहकारक आहार राजस लोगोंको प्रिय होते हैं। नीरस, दुर्गन्धित, बासी, जूठा और अपवित्र आहार तामस लोगोंको प्रिय होता है।

जिस यज्ञके करनेमें फलकी इच्छा नहीं है, जो कर्तव्यरूपसे तन्मयतासे होता है वह सात्विक यज्ञ है। फलकी आशासे और दिखावेके लिए किया जानेवाला यज्ञ राजसी कहलाता है। जिस यज्ञमें विधि नहीं है, मंत्र नहीं है, त्याग नहीं है, श्रद्धा नहीं है उस यज्ञको तामस समझो।

गुरु और संतकी पूजा, पवित्रता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शरीरका तप है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।

सत्य, प्रिय, हितकर और दूसरेको उद्वेग न करनेवाले वचनको बोलना और धर्मग्रन्थोंका स्वाध्याय वाणीका तप है।

मनकी प्रसन्नता, मौन, आत्मसंयम और भावना-शुद्धि मानसिक तप है।

ऐसा शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप जब फलकी इच्छाका त्याग करके श्रद्धापूर्वक किया जाता है तब सात्विक तप कहलाता है। जो तप, मान या प्रशंसा पानेकी आशासे दम्भपूर्वक किया जाता है उसे राजस समझना। जो तप बहुत कष्ट उठाकर मूढ़तापूर्वक और दूसरेका अनिष्ट करनेके लिए किया जाय वह तामस तप है।

देना उचित है ऐसा समझकर, जो दान उचित स्थान, उपयुक्त समयमें योग्य व्यक्तिको दिया जाय वह दान सात्विक है। जो दान किसी लाभकी कामनासे या क्लेशपूर्वक दिया जाता है वह राजस दान कहा गया है। देश, काल और पात्रका विचार किये बिना, तिरस्कारसे अथवा अवहेलनापूर्वक जो दान दिया जाता हैं वह तामस कहलाता है।

जो यज्ञ, दान, तप या दूसरा कार्य बिना श्रद्धाके किया जाता है, वह असत् कहलाता है। वह न तो इस लोकमें लाभदायक है न परलोकमें। इन कर्मोंको श्रद्धापूर्वक करके ईश्वरार्पणकर देना चाहिए।

आओ, श्रीभगवानका स्मरण करके एकसे सत्रह अध्यायों तककी गीताकी शिक्षाको संक्षेपमें हृदयंगम करें—

(१)

राग-द्वेषवश मनुष्य स्वकर्मसे विमुख हो जाता है। स्वजनके प्रति मोहके कारण भ्रमित हो जाता है। राग-द्वेष और मोह स्वधर्म पालनमें बाधक बन जाते हैं। विषाद उत्पन्न होता है। विषम परिस्थितिमें अपना कर्तव्य जाननेकी जिज्ञासा होती है।

(२)

आत्मा अमर है। शरीर नाशवान है। देहमें जवानी, बुढ़ापा आता है और देहका नाश भी होता है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र त्यागकर नये पहन लेता है वैसे ही जीवात्मा

पुराना देह त्यागकर नया देह प्राप्त करता है। इसलिए मृत्यु का शोक नहीं करना चाहिए। मनुष्यको राग-द्वेष त्यागकर स्वधर्मका आचरण करते रहना चाहिए। सुख-दुःख, जय-पराजय, लाभ-हानिमें समता रखकर जो मनुष्य कर्तव्य कर्ममें लगा रहता है उसे पाप नहीं लगता। मानवको कर्म करनेका अधिकार है, फल प्राप्ति उसके वशमें नहीं है। फलकी लालसा न रखे। कर्मका त्याग भी न करे।

स्थितप्रज्ञ पुरुष सब कामनाओंको त्यागकर ईश्वर-परायण रहकर, इन्द्रियोंको वशमें करके, आसक्तिरहित अपने कर्तव्य कर्मको करते रहते हैं। विकारोंको वशमें करके, स्वधर्म में निरत रहनेवाला स्थिरचित्त पुरुष (या स्त्री) अन्तमें मोक्ष पाता है।

(३)

मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता। उसका स्वभाव ही उससे कुछ न कुछ कर्म करावेगा। मनुष्यका शरीर स्वकर्म करनेके लिए मिला है। मानव कर्मसे नहीं बंधता उसके फल की वासनासे बंधता है। निःस्वार्थकी गयी प्राणिमात्रकी कोई भी सेवा यज्ञ है। यज्ञ नित्यका कर्तव्य है। स्वधर्म कभी नहीं छोंड़ना चाहिए। परधर्मका आचरण कल्याणकारी नहीं है।

काम-क्रोध-लोभ आदि विकार ही मनुष्यके शत्रु हैं। इनसे नित्य लड़ना है—और इन पर विजय प्राप्त करना है। जब मनुष्य अपनी आत्माकी महान शक्तिको पहचान जाता है तब सरलतासे विकारोंको वशमें कर पाता है।

(४)

साधु पुरुष ईश्वरकी कृपापर दृढ़ भरोसा रखते हैं और धर्म-पथ पर चलते रहते हैं। मनुष्य जैसा करता है वैसा फल पाता है। कर्म और निषिद्ध कर्मका भेद जानना चाहिए। मनुष्य निष्काम कर्म करे, यज्ञार्थ कर्म करे तो मोक्ष पा जाय। यज्ञ अनेक प्रकारके हैं। शुद्धिके लिए और परहितके लिए किये जाने वाले समस्त कर्म यज्ञ हैं। कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्म यज्ञरूप यानी सेवाके लिए ही होते हैं। श्रद्धावानको ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान प्राप्त होने पर उसे शान्ति प्राप्त होती है।

श्रद्धारहित, संशययुक्त पुरुष कभी सुखी नहीं रहता। संशय त्यागकर श्रद्धायुक्त होकर स्वधर्मका आचरण करते रहना चाहिए।

(५)

कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं। उनमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग श्रेष्ठ है। जो मनुष्य कर्मोंको ब्रह्मार्पण करके, आसक्ति छोड़कर आचरण करता है वह पापसे लिप्त नहीं होता। जो समदर्शी है और जीवमात्र का हितैषी है वही पंडित है। बुद्धिमान मनुष्य विषयोंका चिन्तन नहीं करता और उनमें नहीं फँसता। जो मनुष्य काम-क्रोध आदि विकारों पर नियंत्रण रखता है वही सुखी है।

(६)

कर्मफलकी चाह रखे बिना जो मनुष्य विहित कर्म करता है वही संन्यासी तथा कर्मयोगी है। कर्मका त्याग करने वाला संन्यासी नहीं है। मनुष्य स्वयं ही अपना उद्धार करता है या अपनी अधोगति करता है। संयमित जीवन और नियमित आचरण द्वारा मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है।

मनको वशमें करनेपर ही योग साधन हो सकता है। चंचल मनको अभ्यास और वैराग्यसे वशमें किया जा सकता है। जहाँ-जहाँ चंचल मन जाय वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर आत्म चिन्तनमें लगावे। साधक कभी निराश न हो। धैर्य-पूर्वक प्रयत्न करता रहे। सुपथपर चलनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती। देर या सबेर वह लक्ष्यपर पहुँचता ही है। सुपथ पर निष्ठापूर्वक आगे बढ़ते जानेका प्रयत्न करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

(७)

ईश्वर ही सम्पूर्ण जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण है। धागेमें पिरोयी हुई मणियोंके समान यह सारा विश्व ईश्वरमें गुंथा हुआ है। उससे परे कुछ भी नहीं है। जलमें रस, सूर्यचन्द्रमें प्रकाश, अग्निमें तेज और प्राणिमात्रमें जीवन ईश्वरकी ही अभिव्यक्ति है।

ईश्वरकी मायाके कारण सर्वत्र व्याप्त ईश्वरकी अनुभूति नहीं हो पाती। ईश्वरकी अनन्य भक्तिसे मायाका आवरण हटता है और ईश्वरके दर्शन होते हैं। अनेक जन्मोंके साधनके उपरान्त ही किसी विरले भक्तकी यह प्रतीति बनी रहती है कि सब कुछ वासुदेवमय ही है।

(८)

मृत्युके समय ईश्वर-स्मरण बना रहे तो मोक्ष प्राप्त होता है। मृत्युकालमें उसी भावका चिन्तन बरबस होने लगता है जिसका चिन्तन जीवनभर मनुष्य करता है। इसलिए सदैव ईश्वर-चिन्तन करते हुए असद्वृत्तियोंको नियंत्रणमें रखना चाहिए। इन्द्रियोंसे कर्तव्य पालन करते हुए मन-बुद्धिको ईश्वरमें ही लगाये रखना चाहिए। मनुष्य जीवनको सफल बनानेका उपाय है—सतत ईश्वर-चिन्तन, सतत असद्वृत्तियों का दमन, सतत स्वधर्माचरण।

(९)

निराकार परमात्मा सारे जगतमें व्याप्त है। जो ईश्वर की भक्ति करता है और मनुष्यके रूपमें व्यक्त परमात्माकी सेवामें तत्पर रहता है उसके योग-क्षेमका भार ईश्वर उठाता है। श्रद्धासे समर्पित फल-फूल या पत्ती भी ईश्वर स्वीकार करता है। क्या अर्पित किया इसका महत्व नहीं है, कितनी श्रद्धा और भक्तिसे अर्पित किया इसका महत्व है। मनुष्यको चाहिए कि वह जो कर्म करता है, खाता है, दान देता है, तप करता है और सेवा करता हैं, सब ईश्वरको अर्पण करके करे। ईश्वरार्पण बुद्धिसे नियतकर्म करके स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परमगति पाते हैं। कोई कर्म छोटा या बड़ा नहीं है। यज्ञरूप किये गये प्रत्येक कर्मकी समान प्रतिष्ठा है। यज्ञार्थ स्वकर्मका आचरण करके मनुष्यमात्र परमगतिके अधिकारी बनते हैं। जिसे जो काम मिला है, जो सेवा मिली है, उसे ईश्वर द्वारा सौंपा कार्य मानकर कुशलतासे पूरा करके ईश्वरको समर्पित करदे।

(१०)

संसारमें जो श्रेष्ठ है, प्रभावशाली है, तेजयुक्त है, उन

सबमें ईश्वरकी ही प्रतिभा विकसित हुई है। एक ही ईश्वर की ज्योतिसे सब प्रकाशित हैं। एक ही ईश्वरके तेजसे सब तेजयुक्त हैं। जहाँ कुछ भी विभूति दीखती है—दैवी या आसुरी—सब ईश्वरकी ही सत्ताका अंशमात्र है। सुन्दर और तेजस्वी वस्तुओंमें ईश्वर की प्रतीति अधिक स्पष्ट होती है। चमकते सूर्य, शीतल चाँद, बहती गंगा, लहराते समुद्र और स्थिर हिमालयमें ईश्वरकी विभूतिका दर्शन करते हुए हमें समस्त चराचरमें ईश्वर-दर्शनका अभ्यास करना है।

(११)

यह विश्व ईश्वरका रूप है। विश्वमें ईश्वर और ईश्वरमें विश्व समाया हुआ है। सबमें हरि है, हरि में सब हैं। ईश्वरीय विधानके अनुसार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, विकास और मृत्यु होती रहती है। प्राणिमात्र ईश्वरसे उत्पन्न होते हैं और उसीमें लय हो जाते हैं। विश्वका आधार ईश्वर है और वही विश्वका संचालक है। समस्त जीवधारियोंको मृत्युका ग्रास बनना अनिवार्य है। विश्वका सूत्रधार मनुष्यको अपनी योजनाके अनुसार संसारमें लाता है और उठा लेता है। मनुष्य न अपनी मर्जीसे आता है न अपनी मर्जीसे जाता है। सूत्रधारकी योजना भी मनुष्यको ज्ञात नहीं है। सब अपना निर्धारित पार्ट सम्पन्न करने आये हैं और पूरा करके चले जायँगे। बिना पूरा किये जा नहीं सकते और पूरा करने के बाद रुक नहीं सकते। संसार-नाटक चलता रहा है, चल रहा है और निरंतर चलता रहेगा। मनुष्य अपनेको निमित्त-मात्र समझे और अहंकार, मोह, भय, वैर और आसक्ति त्यागकर अपने पार्टको कुशलतापूर्वक सम्पन्न करनेका प्रयत्न करे तो सूत्रधार प्रसन्न होगा। इसीकी अनुभूति विश्वरूपका दर्शन है।

(१२)

साकार और निराकार दोनों प्रकारकी पूजा करनेवाले भगवानको प्रिय हैं। निराकार निर्गुण है और उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए निराकारकी आराधना करनेवालेके लिए कठिनाई अधिक है। देहधारी मनुष्यके लिए साकार पूजा सरल और सुगम है।

जो प्राणिमात्रके प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र, दयावान, ममता रहित, अहंकाररहित, सुख दुःखमें समान, क्षमावान, सदा सन्तोषी, इन्द्रियनिग्रही, दृढ़निश्चयी है और जिसने अपना मन और बुद्धि ईश्वरमें लगा रखा है वह भक्त भगवानको प्रिय है। जिससे लोग उद्वेग नहीं पाते, जो लोगोंसे उद्वेगित नहीं होता, जो क्रोध, भय और ईर्ष्यासे मुक्त है वह भगवानको प्रिय है। जिसने आसक्तिका त्याग किया है और जो निन्दा-स्तुति तथा मान-अपमानमें समान भावसे वर्तता है वह मनुष्य भगवानको प्रिय है।

(१३)

शरीर क्षेत्र है, आत्मा क्षेत्रज्ञ। शरीर कर्म करनेके लिए मिला है। शरीर द्वारा पुण्य और पाप दोनोंकी खेती हो सकती है। भिन्न भिन्न क्षेत्रों में रहनेवाला आत्मा परमात्माका ही अंश है। प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। पुरुष सुख-दुःखके भोगमें हेतु कहा जाता है।

ईश्वरकी शक्ति अलौकिक है। वह सर्वव्यापक है। वह निराकार है पर प्राणिमात्रमें साकार हो रहा है। वह कर्ता है और अकर्ता भी है। वह पास है और दूर भी है। वह गतिमान है और स्थिर भी है। वह सबके हृदयमें स्थित है फिर भी अविभक्त है। ईश्वरका वर्णन करना मनुष्यकी सामर्थ्यसे परे है।

(१४)

प्रकृतिसे उत्पन्न तीन गुण–सत्व, रज और तम जीवात्मा को शरीरमें बाँधते हैं। सत्वगुणसे प्रकाश और सुख, रजोगुणसे प्रवृत्ति और आसक्ति एवं तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है।

प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह प्राप्त होनेपर जो द्वेष नहीं करता और इनके प्राप्त न होनेपर इनकी इच्छा नहीं करता, जिसे गुण विचलित नहीं करते, गुण अपना काम कर रहे हैं यह मानकर जो तटस्थ रहता है, जो मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेको समान समझता है वह गुणातीत कहा जाता है। जिसे

निन्दा-स्तुति और मान-अपमान प्रभावित नहीं करता, जो शत्रु-मित्रके प्रति समभाव रखता है और जो ईश्वरका अनन्य भक्त है वह तीनों गुणोंसे परे हो जाता है। सत्वगुणका विकास, गुणातीतताकी स्वर्ण मंजिलपर ले जानेवाले लम्बे मार्गका पहला पड़ाव है।

(१५)

विशाल वृक्षरूपी संसारका मूल ईश्वर है। ईश्वर ही धरती है जिसपर संसारवृक्षका उद्गम और विस्तार हुआ है। इस विविध आकर्षणोंवाले संसारवृक्षके विषयोंसे अनासक्त रहकर उस परमात्माकी शरण जाना चाहिये जो विश्ववृक्षका आधार है।

जीवात्मा ईश्वरका अंश है। ईश्वर पूर्ण है, अव्यय है, अनन्त है, अक्षय है। ईश्वर ही समस्त प्राणियोंका धारण पोषण करनेवाला है इसलिए लोकमें व वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रख्यात है। पुरुषोत्तमकी दीप्तिसे ही सूर्य चन्द्र आदि दीप्तिमान हो रहे हैं। वह स्वयंप्रकाश है और सबका प्रकाशक है। पुरुषोत्तम सब वेदोंका ज्ञाता है और वही सब वेदों द्वारा जानने योग्य है। जो ज्ञानी पुरुष पुरुषोत्तमको इस प्रकार तत्त्वसे जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर पुरुषोत्तमको ही भजता है।

(१६)

अभय, अन्तःकरणकी शुद्धि, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग तथा निरभिमान इत्यादि मनुष्यकी दैवी संपदा है। दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान इत्यादि आसुरी संपदा है। दैवी संपदा मनुष्यको कल्याणमार्गपर प्रवृत्त करती है और क्रमशः मोक्षकी ओर ले जाती है। आसुरी संपदा मनुष्यको बुरे रास्तेपर चलनेको प्रेरित करती है और उसका पतन हो जाता है।

काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुण मनुष्यको नरककी ओर खींच ले जाते हैं। मनुष्यको चाहिये कि इन दुर्गुणोंको त्यागे और संतों तथा अनुभवी पुरुषों द्वारा बताए कल्याणमार्गपर चले।

(१७)

मनुष्यमें स्वभावसे तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है—सात्विक, राजसी और तामसी। जिसकी जैसी श्रद्धा रहती है, वैसा ही वह होता है। आहार भी तीन प्रकारका होता है। यज्ञ, तप तथा दान भी तीन प्रकारके होते हैं—सात्विक, राजसी और तामसी। जो यज्ञ, तप, दान या दूसरा कार्य बिना श्रद्धाके किया जाता है वह असत् कहलाता है। वह न तो इस लोकमें हितकर है न परलोकमें। यज्ञ, तप, दान आदि सभी सत्कर्मोंको श्रद्धापूर्वक करके परमात्माको अर्पण कर देना चाहिये।

■

अठारहवाँ अध्याय

पूज्य बापूजी लिखते हैं—"इस अध्यायको उपसंहाररूप मानना चाहिये। इस अध्यायका या गीताका प्रेरक मन्त्र यह कहा जा सकता है—'सब धर्मोंको तज कर मेरी शरण ले'। यह सच्चा संन्यास है, परन्तु सब धर्मोंके त्यागका मतलब सब कर्मोंका त्याग नहीं है। परोपकारके कर्मोंमें भी जो सर्वोत्कृष्ट कर्म हों उन्हें 'उसे अर्पण करना और फलेच्छाका त्याग करना, यह सर्वधर्मत्याग या संन्यास है।"

मेरे प्यारे बेटे! मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि तुमने सत्रह अध्यायतक गीताका मनन किया। मैंने जो कुछ कहा तुमने ध्यानसे, लगनसे सुना। मैं तुम्हारा आभार मानता हूँ। प्रायः श्रोतागण वक्ताका आभार मानते हैं—कि उन्हें प्रेरणाप्रद शब्द सुननेको मिले। पर वक्ताको भी श्रोताका आभार मानना चाहिये। श्रोताके मनोयोगपूर्वक सुननेको रुचिके कारण ही वक्ताको अपने विचार प्रस्तुत करनेका अवसर मिलता है। मैं तुम्हारा आभारी हूँ कि तुमने सुननेकी उत्कंठा दिखाकर मुझे सुनाते जानेका अवसर दिया। तुम्हें गीताजीका बोध करानेके लिए मुझे कुछ वर्ष गीताजी को मनन करनेका सुअवसर मिला, नये-नये अर्थ मिले, चित्तको शान्ति मिली और स्वधर्म पालनकी रुचि बढ़ी। मेरे ये दिन बड़े आनन्दमें बीते और इसका कारण तुम थे। विश्वास करो तुम्हें गीता सुनानेमें मुझे इतना सुख मिलेगा इसकी मुझे कल्पना नहीं थी। मैंने जो कुछ तुम्हें देना चाहा उससे कहीं अधिक मुझे मिल गया है। तुम प्रसन्न रहो, संयमी और पवित्र बनो।

अर्जुनने श्रीभगवानसे प्रार्थनाकी कि संन्यास और त्यागका तत्व मुझे समझाइये। श्रीभगवानने कहा—काम्य (कामनासे युक्त) कर्मोंको छोड़ना ही संन्यास है। सब कर्मोंके फलका त्याग ही त्याग है। कुछ लोग कर्मों को छोड़ना ही संन्यास समझते हैं। मेरा निश्चित मत है कि यज्ञ, दान और तप तो करते ही रहना चाहिए। ये तो पवित्र करनेवाले कर्म हैं। इन कर्मोंको छोड़ना ठीक नहीं। इन कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग करना चाहिये। कर्तव्य कर्मका त्याग अनुचित है। कर्तव्य कर्मोंको स्वरूपसे न त्यागकर उनके करनेमें फलकी इच्छा हो तो उसे त्यागना सात्विक त्याग है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।

यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म त्याज्य नहीं हैं वरन् अवश्य करने योग्य हैं। यज्ञ, दान और तप बुद्धिमान मनुष्यको पवित्र करते हैं। ये कर्म भी आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके करने चाहिए, ऐसा मेरा निश्चित उत्तम मत है।

श्रीभगवानने कितना स्पष्ट कह दिया है "यह मेरा निश्चित मत है कि यज्ञार्थ कर्म करना ही है, निष्काम कर्म करना ही है।"

तुम्हें याद है न कि अर्जुन कुरुक्षेत्रमें हाथपर हाथ रखकर बैठ गया था, विषादसे युक्त हो श्री भगवानकी शरण आकर उनसे प्रार्थना की थी 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'—'मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरणमें आया हूँ, जो निश्चित-कल्याण-कारक हो वह मेरे लिये कहिये।' अर्जुनने निश्चित बात पूछी थी—श्री-भगवानने उसे अपना निश्चित उत्तम मत बता दिया—बिना आसक्तिके बिना फलकी इच्छाके बिना उद्वेगित हुए—स्वकर्म करता रह। कर्तव्या-नीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।

कर्म करना है या नहीं ऐसी पसन्दगी तुम्हारे अधिकारमें नहीं है। कर्म तो करना ही है। मनुष्य कर्मसे भाग नहीं सकता—उसे छोड़ नहीं सकता। कर्म करना पड़ेगा—कर्म करना ही चाहिये। कैसे करोगे उसका ढंग समझ लो।

युद्धस्व विगतज्वरः = संताप रहित होकर युद्ध कर।
= रागद्वेष रहित होकर कर्म कर।
= क्षोभ रहित होकर कर्म कर।

तस्मादसक्तः सततं
कार्यं कर्म समाचर = निरन्तर आसक्तिरहित रहकर कर्तव्यकर्मोंको भली-भांति करता रह।

योगस्थः कुरु कर्माणि
सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय = योगस्थ होकर, आसक्तिका त्याग कर कर्म करो।

श्रीभगवानने पुनः कहा—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

जो व्यक्ति नियत कर्तव्यको अपना करने योग्य कार्य मानकर करता रहता है और उस कार्यकी आसक्ति और फलेच्छाको त्याग देता है, उसका त्याग सात्विक माना गया है।

जो अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें ममता नहीं रखता—उससे लिप्त नहीं होता, वही सत्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान और सच्चा त्यागी है।

कर्मका सर्वथा त्याग देहधारीके लिए सम्भव नहीं है। जो कर्मफल का त्याग करता है वही त्यागी कहलाता है।

आओ उस पुरुषोत्तमके दर्शन कर लें—उसके चरणोंमें शीश झुका लें जो कुशल कर्ममें आसक्त नहीं हुआ और अकुशल कर्मसे जिसे द्वेष नहीं था।

श्रीरामको राजगद्दी मिलनेकी कोई प्रसन्नता नहीं हुई बल्कि संकोच हुआ और अरुचिकर लगा कि मेरा सब भाइयोंके साथ यज्ञोपवीत और विवाह हुआ तो राजगद्दीपर मुझ अकेलेको ही क्यों बैठाया जा रहा है? राजगद्दीकी कुशल सूचना १४ वर्षके बनवासकी अकुशल सूचनामें बदल गयी तब श्रीरामकी प्रसन्नता जरा भी मलिन नहीं हुई। कहाँ राजगद्दी, कहाँ वनवास। आकाश-पातालका अन्तर। फिर भी मुखपर प्रसन्नता या मलिनताकी एक रेखातक नहीं। ऐसा क्यों? क्योंकि रामको स्वधर्म पालन इष्ट था। वे कर्मयोगी थे। कर्मकी आसक्ति और फलकी इच्छा उन्हें नहीं थी। जब पिताकी आज्ञा राजगद्दी सम्हालनेकी हुई तब वह कर्तव्य हो गया, जब वन जानेकी आज्ञा हुई तो वह कर्तव्य हो गया। जहाँ यज्ञार्थ ही कर्म किया जा रहा हो वहाँ राग-द्वेष क्यों होगा?

गोस्वामीजीने श्रीरामके उस समयके मुखारविंदका बड़ा सुन्दर चित्रण एक श्लोकमें किया है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमंगलप्रदा॥

"रघुकुलको आनन्द देनेवाले श्रीरामके मुखारविंदकी जो शोभा राज्याभिषेककी बात सुनकर न तो प्रसन्नताको प्राप्त हुई और न वनवास के दुःखसे मलिन ही हुई, वह मुखकमलकी छवि मेरे लिए सदा सुन्दर मंगलोंकी देनेवाली हो।"

श्रीभगवानने समझाया कि कर्ममात्रकी सिद्धिमें पांच कारण होते हैं—स्थान, कर्ता, साधन, क्रियाएँ और दैव। मनुष्यको समझना चाहिये कि सब कुछ उसीके हाथमें नहीं हैं—और यह समझकर उसे किसी काममें सफलता मिलनेपर अभिमान नहीं करना चाहिये और असफल होनेपर उदास या मलिन नहीं हो जाना चाहिये।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥

जो आसक्ति और अहंकार-रहित है, जिसमें दृढ़ता और उत्साह है, जो सफलता-निष्फलतामें हर्ष-शोक नहीं करता वह सात्विक कर्ता कहलाता है।

सात्विक सुख वह है जिसमें आरम्भमें तो बहुत कष्ट मालूम होता है पर परिणाम बहुत सुखद होता है। इसके आचरणसे मनुष्य प्रसन्न रहता है और दुःखका अन्त हो जाता है। इन्द्रियों और उनके विषयोंके संयोग से प्राप्त होनेवाला सुख राजस कहा जाता है। यह पहले तो बड़ा आकर्षक लगता है पर अन्तमें दुःख और अतृप्ति बनी रहती है। जो शुरूमें और परिणाममें भी मोहनेवाला है वह आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है।

अपने लिये निर्धारित कर्म करना मनुष्यमात्रके लिये आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है। मनुष्य समाजको सुव्यवस्थित रखनेके लिए चार वर्णों की रचना की गयी है और हर वर्णके स्वाभाविक कर्म नियत कर दिये गए हैं। शिक्षा, रक्षा, व्यवसाय और सेवाको समाजका चार जरूरी अंग जानकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण बनाये गये हैं और उनके प्रमुख कर्म भी नियत कर दिये गये हैं। ब्राह्मणके नियत कर्म हैं—

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता। क्षत्रियके नियत कर्म हैं—शौर्य, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें पीछे न हटना। वैश्यके नियत कर्म हैं—खेती, गो-रक्षा और व्यापार। शूद्रके नियत कर्म हैं—सेवा और परिचर्या। न कोई वर्ण ऊँचा है न कोई वर्ण नीचा। न कोई काम ऊँचा या शुभ है और न कोई काम नीचा या अशुभ है। वर्णके नामपर ऊँच-नीच मानना अधर्म है और गीताकी शिक्षाके प्रतिकूल है। धर्मकी निगाहमें हर मनुष्य बराबर है। धर्म जात-पाँतके, अमीर-गरीबके भेद मिटाता है उसे बढ़ाता नहीं। वर्णके नामपर छूआछूत मानना पाप है। वर्ण व्यवस्था मनुष्य जीवनको सरल, त्यागमय बनानेके लिये की गयी है। किसी वर्णका अपने को उच्च मानकर दूसरे वर्णका तिरस्कार करना, उसे अस्पृश्य मानना घोर अपराध है।

ऋग्वेदका मंत्र है—

ओम् अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
संभ्रातरो वावृधुः सौभंगाय।

तुम लोगोंमें कोई छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच नहीं है। अपितु सब भाई हैं, अतः सब मिलकर उत्तम ऐश्वर्यके लिए प्रयत्न करें।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

अपने-अपने कर्ममें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। स्वकर्ममें लगे हुए मनुष्यको जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त होती है वह मुझसे सुनो।

जिस परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति हुई है और जिससे समस्त संसार व्याप्त है उस परमात्माकी स्वकर्म द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

गीता कहती है मनुष्य अपने व्यापार, अपने पेशे द्वारा ईश्वरकी पूजा करके सिद्धि प्राप्त कर लेता है। गीता कर्म छोड़नेको या बदलनेको नहीं कहती। जो काम तुम करते हो अगर वह विहित कर्म है तो उसीको निष्ठासे करो, ईश्वर-प्रीत्यर्थ करो—यज्ञार्थ करो। व्यभिचार, चोरी, कपट, धोखा आदि नीच कर्म किसीका स्वकर्म नहीं हो सकता। ये अवि-

हित कर्म हैं—पाप हैं। तुम जो कर्म करते हो—तुम्हारा जो स्वकर्म है—वही तुम्हें सिद्धि दिला देगा। गीता सिद्धि प्राप्तिके लिए तुम्हें जंगलमें या आश्रममें जानेका आग्रह नहीं करती। घर त्यागनेको नहीं कहती। गीता ने सिद्धिको तुम्हारे दरवाजेपर लाकर खड़ा कर दिया है। तुम्हें सिद्धिको खोजने नहीं जाना है पर उसे स्वकर्मसे प्राप्त कर लेना है। तुम्हें अपने कर्मको कुशलतासे, पूरी योग्यतासे करना है। तुम्हारा पेशा ही तुम्हारी पूजा हो जाय। तुम स्वकर्मसे ही सिद्धि प्राप्त कर लो।

गीता तुमसे अपना कार्य बदलनेको नहीं कहती, भावना बदलनेको कहती है। भावना बदल देनेसे तुम्हारे काम करनेका ढंग बदल जायगा। तुमको नयी उमंग आवेगी, नयी प्रेरणा मिलेगी—तुम्हारा काम ही तुम्हारी अर्चना हो जायगी।

गंगाराम नगर महापालिका एक सफाई कर्मचारी है। वह नगरके एक क्षेत्रकी सड़क साफ करता है और उसे नगरमहापालिकासे दो सौ पचास रुपये मासिक वेतन मिलता है। घरमें उसकी पत्नी है, तीन बच्चे हैं। गंगाराम प्रतिदिन सड़ककी सफाई करता है। सफाई ठीक न हो तो उसे जमादारकी बात सुननी पड़ती है। कभी जमादार (निरीक्षक) छुट्टीपर होता है। तब गंगाराम जैसे-तैसे सफाई करके रामनाथ चायवालेकी दुकान पर जल्दी पहुँचकर एक प्याला चाय पीता है, सिगरेट पीता है, गप्पें लगाता है। पर जब जमादार सिरपर रहता है उसे देरतक झाड़ू लगाना पड़ता है। उसे अपने काममें जरा भी रस नहीं आता। सवेरे-सबेरे उठकर झाड़ू हाथमें लेकर निकलना पड़ता है, तरह-तरहकी गन्दगी साफ करनी पड़ती है—यह भी कोई जिन्दगी है? उसे अपने कामसे अरुचि है। पर करे क्या? पढ़ा-लिखा है नहीं। कोई दूसरा काम मिलता नहीं—झाड़ू न दें तो बच्चोंका और अपना पेट कैसे पाले? लाचार एक वह मन्द जिन्दगी जी रहा है और गमको सिगरेटके कसमें भुलाये रहता है।

गंगाराम अपनी भावना बदले और इस प्रकार विचार करे—"सड़क पर झाड़ू लगाकर मैं नगरकी सफाईमें मदद देता हूँ। झाड़ू न लगे तो कैसी गन्दगी फैल जायेगी। इस सड़क पर कितने भाई-बहन और बच्चे चलते हैं। कितने तो नंगे पैर ही चलते हैं। यदि मैंने सफाई अच्छी नहीं-की और किसी बच्चेको कांटा गड़ गया तो बेचारेको कितनी तकलीफ होगी। रोता-रोता घर पहुँचेगा। ये छोटे-छोटे बच्चे जो सुबह स्कूल जाते हैं मेरी बिटिया सरिताके बराबर हैं। इनके स्कूल जानेके पहले ही सड़क

साफ कर दूँ—तभी ठीक है। ये छोटे बच्चे धूल उड़ने पर नाकमें रूमाल तक नहीं लगाते। जल्दी सफाई कर दूँ तो सफाईकी उड़ती धूल इनकीनाकमें न जाय। ईश्वरने मुझे यह काम सौंपा है। सफाई करना कोई छोटा काम है क्या ? और छोटा हो या बड़ा यह मेरा स्वधर्म है। मेरे बाप-दादा भी यही करते थे। मैं इसे खूब अच्छी तरह करूँगा। एक भी कांचका टुकड़ा सड़क पर पड़ा नहीं रहने दूँगा। मेरी झाड़ू कैसी सफाई करती है ? मैं यह काम कितना अच्छा और जल्दी कर पाता हूँ। रामनाथ भले ही बढ़िया चाय बना ले, पान लगा ले पर झाड़ू अच्छी तरह नहीं दे सकता—क्योंकि यह काम उसने किया नहीं है। उस दिन व्यासजी गीताकी कथा सुना रहे थे कि तुम जो काम करते हो उसीको अच्छी प्रकार करके तुम ईश्वरको प्रसन्न कर सकते हो। मैं झाड़ू देनेका काम अच्छी प्रकार करूँगा, सेवाके लिए करूँगा। यही मेरा स्वधर्म है। इसे मैं अच्छी तरह करके ईश्वरको प्रसन्न करूँगा।"

श्री मुरलीधर शर्मा, लालबहादुर शास्त्री शिशु विद्यालयका अध्यापक है। विद्यालयमें शिशु कक्षासे लेकर कक्षा ५ तक शिक्षा दी जाती है। मुरलीधर कक्षा ३, ४ तथा ५ को हिन्दी पढ़ाता है। मुरलीधरकी मातृ-भाषा हिन्दी है इसलिए इन छोटे बच्चोंको हिन्दी पढ़ानेमें विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। घरमें मां, पत्नी तथा दो बच्चे हैं। पुत्र गजाधर ९ वर्षका तथा पुत्री सविता ७ वर्षकी है। मुरलीधरको पहले तीन सौ वेतन मिलता था। अब संशोधित सरकारी नियमके अनुसार चार सौ पचास रुपये वेतन मिलने लगा है। विजयकुमार और निर्मलकुमार नामके दो सगे भाई कक्षा ३ और ४ में पढ़ते हैं। ये बच्चे सम्पन्न परिवारके हैं। मुरलीधरको इनके घर ट्यूशन मिल गया है। पचहत्तर रुपये मासिक मिलता है। मुरलीधरका विजयके परिवारमें मान है। विजयके पिता श्री राजेन्द्रकुमार मुरलीधरका वेतन एक सौ रुपये कर देनेको प्रस्तुत हैं, यदि विजय और निर्मल परीक्षामें प्रथम आवें। मुरलीधरको अब दो बातोंमें ही विशेष रुचि है। विजय और निर्मलको परीक्षामें प्रथम स्थान दिलाना और गजाधर तथा सविताको पढ़ा-लिखाकर खूब योग्य बनाना। बाकी बालकोंको तो वह विद्यालयका वेतन भोगी अध्यापक होनेके कारण पढ़ाता है। वे पास हों या न हों, समयसे आवें या न आवें, मुरलीधर कहाँ तक माथा खपावे।

मुरलीधरको यदि अपने कार्यसे ही सिद्धि प्राप्त करनी है तो उसे अपनी भावना बदल देनी चाहिये। उसे अपने कामको तन्मय होकर

करना चाहिये। लालबहादुर शास्त्री शिशु विद्यालयके जितने बालकोंको वह पढ़ाता है वे सभी बालक अमीर हों या गरीब उसके पुत्रके समान हैं। ईश्वरने इन बालकोंको मुरलीधरको सौंपा है कि वह उन्हें शिक्षित करे, योग्य बनावे। ये सभी बालक उसकी धरोहर हैं। वह गरीब बालकोंकी उपेक्षा नहीं करेगा। क्या पता उन्हींमेंसे कोई बालक लालबहादुरकी तरह योग्य बने। लालबहादुर भी तो गरीब थे। वह विजय-निर्मलका ट्यूशन तो नहीं छोड़ेगा-पर स्कूलमें किसी तरहका भेद-भाव नहीं करेगा। विद्यालय उससे यह अपेक्षा रखता है कि वह सब बच्चोंको समान स्नेह देगा और वह अपनेको इस अपेक्षाके अनुरूप बनावेगा। स्कूलके समयका पूरा-पूरा उपयोग वह हर बालकको योग्य बनानेमें करेगा। बिना किसी भेद-भावके वह सब बालकोंका समान हितचिन्तन करेगा। विद्यालयके कारण ही राजेन्द्रकुमारजीके यहाँ उसकी पूछ है इसलिये वह विद्यालयके प्रति वफादार रहेगा। उनको वह अपनी भावनासे अवगत करा देगा। अपने सात्विक संयमित जीवनसे वह बालकोंके लिए सही जीवन जीनेका आदर्श प्रस्तुत करेगा। उसका लक्ष्य हो जायगा शिक्षाको यज्ञकार्य बनाकर आत्म-दर्शन करना।

रामनारायन-नारायन मेडिकल स्टोरका मालिक हैं। नारायन मेडिकल स्टोर शहरकी ख्याति प्राप्त दुकान है। रामनारायन सब तरहसे सुखी है। पर एक परेशानीमें पड़ गया है। उसके पासका एक दवाका व्यापारी नकली दवा बेचता है। उसने खूब धन कमाया है। रामनारायन नकली दवा बेचनेसे डरता है। नकली दवा पकड़ जानेसे उसकी दुकानकी साख बिगड़ जायगी। जुर्माना तथा सजा भी हो सकती है। इस डरसे रामनारायन नकली दवाके व्यापारसे कतराता रहा है। पर आज सुबह दुकान खुलनेपर नकली दवाका दलाल मेघनाद उसके पास पुनः आया। रामनारायन जो कई बार मेघनादको वैरंग लौटा चुका था-आज उसके चक्करमें फँस गया। पहले तो रामनारायनने खोद-खोद कर पूछा कि उसका पड़ोसी कितनी नकली दवा खरीदता है। मेघनादको आज पैर जमानेका मौका मिला। उसने सब बताया और फिर नकली दवाके नमूने दिखाये। रामनारायनने देखा नकली दवाकी पैकिंग और दिखावा बिल्कुल असली जैसा है। लोभसे पराजित हो रामनारायन ललचायी आंखोंसे नकली दवाके नमूने देखने लगा। पड़ोसी दुकानदारकी लम्बी कमाई उसको चुभती थी। रामनारायनने ४-५ हजार रुपयोंकी नकली दवाका पहला आर्डर मौखिक दे दिया। दिनमें ३ बजे तक सब दवा उसकी दुकान पर

पहुंचा दी गयी। पर जबसे नकली दवा दुकान पर आई है—रामनारायन भयभीत रहने लगा है। आता हुआ हर ग्राहक उसे इन्सपेक्टर सा दीखता है। 'ग्राहक बनकर कोई इन्सपेक्टर तो नहीं आ रहा है, दवाकी जांच कर कोई मुझे अपराधी समझ न ले ?' वह अशान्त हो गया है। उसका चेंहरा फीका पड़ गया है। रातमें उसे ठीक नींद नहीं आती।

रामनारायन पाप कर्ममें इसलिए फंसा कि उसे पड़ोसीकी कमाई आर्कषित करती थी। उसका लक्ष्य ऊँचा नहीं था। सरकारकी नजरोंसे बचकर कमा सके तो कमाले—ऐसी उसकी भावना थी। रामनारायनको अपनी भावना बदलनी चाहिए। रामनारायन दवा बेचनेका एक उपयोगी व्यापार कर रहा है। उसे आर्थिक लाभ तो होता ही है पर मुख्यतः समाजकी जरूरत पूरी होती है। रोगीको आवश्यकतानुसार दवा मिलती है। वह समाजका एक जरूरी अंग है। ठीक दवा बेचकर रोगीको निरोग बनानेमें निमित्त बनना उसके जीवनका लक्ष्य हो जायगा। नकली दवा बेचकर रोगीके जीवनको खतरेमें डालनेकी बात वह सोच भी नहीं सकता। उसे ऐसा गलत पैसा हरगिज नहीं चाहिये। मेघनादकी लुभावनी बातें अब उसे आर्कषित नहीं करेंगी।

भावना बदल देनेसे गंगारामको अधिक सफाई नहीं करनी पड़ती, मुरलीधर शर्माका वेतन कम नहीं हो जाता, रामनारायन निश्चिन्त रहकर दुकानमें बैठ सकता है। सभीका जीवन शान्त हो जाता है। शान्ति ही सुख है। यदि अधिकतर लोग अपने पेशे, व्यापार या वृत्तिको स्वधर्म मानकर निष्ठासे, कुशलतासे करें तो सामाजिक जीवन सुखी हो जाय। स्वधर्मके अनवरत आचरणसे सिद्धि मिलेगी पर इसके स्वल्प आचरणसे भी दुख और भय दूर हो जाता है। 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'' सिद्धि समय आने पर मिलेगी पर शान्ति और सन्तोष तो कर्मयोगका आचरण करते ही मिलने लगते हैं, जैसे मकानकी खिड़की खोलते ही सूर्यका प्रकाश अन्दर आ जाता है।

गंगाराम, मुरलीधर और रामनारायनमें से किसीको यह नहीं सोचना चाहिये कि अकेले मेरे अच्छा आचरण करनेसे समाज कैसे बदलेगा ? न तुम्हारे अकेले अच्छा करनेसे समाज अच्छा हो जायगा न तुम्हारे बुरा करनेसे बुरा हो जायगा। संसारमें गुण-दोष, पाप-पुण्य बने रहेंगे। भगवानने संसार बनाया ही ऐसा है। 'जड़ चेतन गुन दोषमय विस्व कीन्ह करतार'। तुम अपना काम ठीक करके निश्चिन्त हो जाओ।

तुम अपना काम पूरा करने इस संसारमें आए हो। तुम अपना काम ठीक करो। जगतके काजी मत बनो।

क्या गंगाराम, मुरलीधर और रामनारायनको भावना बदल देनेसे ही सिद्धि मिल जायगी ? उन्हें बहुत लम्बा रास्ता तय करना है। अपने पेशेमें मानव सेवाके नये तरीके ढूंढ़ने हैं। पेशेको योग्यतासे और कुशलता-से करना सीखना है। योगः कर्मसु कौशलम्। कर्मको मन लगाकर यथा-शक्ति पूर्णताके साथ करना है। अपने कर्ममें मग्न हो जाना है। स्वधर्मा-चरण द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेकी साधना करनी है। नये-नये अनुभव प्राप्त करते हुए उन्हें अपना विकास करते जाना है। उन्हें इस भावना-को दृढ़ बनाये रखना है कि जीवन भोगके लिए नहीं, सेवाके लिए है। भावना बदलकर अब वे उस रास्तेपर चलने लगे हैं जिसपर निष्ठापूर्वक चलकर अपने हिस्सेमें प्राप्त कर्मको ईश्वर प्रीत्यर्थ करते हुए—यज्ञार्थ करते हुए—अन्तमें सिद्धि मिल जायगी। जो सही राह पकड़ लेता है वह देर या सबेर मंजिल पर पहुँच जायगा।

जीवन सेवा और परोपकारके लिए है–ऐसी भावना बन जाने पर भी हमारे ऐसे अधिकांश मनुष्य एकनिष्ठ सेवामें नहीं प्रवृत्त हो पाते। काम क्रोध, लोभ, मोह, आलस्य, अहंकार, पद-लिप्सा, इन्द्रियोंकी चंचलता, राग-द्वेष, वासना और अभ्यास हमें स्वार्थकी ओर सदैव खींचते रहते हैं। पर यह कोई निराशाकी स्थिति नहीं है। सभी साधकोंको ऐसी स्थितिसे गुजरना पड़ता है। क्रिकेटके खिलाड़ीको ग्यारह फील्डर आउट करनेकी ताकमें लगे रहते हैं। इतने प्रबल क्षेत्र रक्षकोंसे घिरे रहते हुए भी कई खिलाड़ी शतक बना लेते हैं। क्षेत्र रक्षकोंको हटा दिया जाय तो खेलमें कोई आकर्षण नहीं रह जायगा। तेज गेंदबाजी और क्षेत्र रक्षकोंकी व्यूह रचनाके बाबजूद रन बनाना ही बल्लेबाजकी कुशलता है। अनेक विघ्न-बाधाओंके रहते हुए भी निष्कामकर्म करते जाना मनुष्यकी कुश-लता है। बाधाएँ न हों तो जीवन नीरस हो जाय। महापुरुषोंकी जीवन-गाथा बड़ी प्रेरणा देती है। वे कैसे आगे बढ़े ? प्रबल विरोधके रहते हुए भी वे प्रगति करते गए। वे ध्रुवतारा हैं—मार्गदर्शक हैं।

सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन अलग-अलग नहीं है। प्रवृत्तिके भीतर निवृत्ति है। प्रवृत्ति और निवृत्तिका सह-अस्तित्व है। प्रवृत्तिकी सीमारेखा—बाउन्ड्रीलाइन—पार करते ही निवृत्ति नहीं प्राप्त हो जायगी। ६०, ७० या ७५ वर्षकी आयुके बाद एक दिन गेरुआ वस्त्र पहन-

कर, सिर मुड़ाकर प्रवृत्तिसे निवृत्तिमार्गकी ओर चल पड़ना सम्भव नहीं। घरमें रहते हुए भी ज्यों-ज्यों कर्ममें अनासक्ति बढ़ती जाती है निवृत्ति बढ़ती जाती है। गृहस्थका घर ही उसका कुरुक्षेत्र है—धर्मक्षेत्र है, जहाँ उसे जीवन-संग्राम करना है। गृहस्थका घर ही उसकी तपोभूमि है जहाँ उसे अहिंसा, अस्तेय, अक्रोध, अस्वाद, असंग्रह और अनासक्तिकी साधना करनी है। अपने सामने आए कर्मको छोड़कर भाग जानेसे कोई संन्यासी नहीं हो जाता। जो निष्काम कर्म करता है, यज्ञार्थ कर्म करता है, वह प्रवृत्त होते हुए भी निवृत्त है। प्रवृत्ति घरमें रहती है और निवृत्ति आश्रम या वनमें निवास करती है, ऐसा नहीं है। घरमें निवृत्ति आ सकती है और जंगलमें प्रवृत्ति पकड़े रह सकती है। जनककी कथा यही बताती है।

बापूजी कहते हैं "सच्ची और शाश्वत चित्तशुद्धि तो मनुष्य कर्म करते हुए ही साध सकता है"।

गीताके उपदेशको जीवनके प्रतिदिनके व्यवहारमें—व्यापारमें उतारा जा सकता है और जीवनका रूपान्तर किया जा सकता है।

गीता दर्शन यथार्थवादी है। जीवनका ऊँचा से ऊँचा लक्ष्य रखते हुए भी गीताका जीवन दर्शन वास्तविक है। गीता द्वारा निर्देशित मार्ग पर सब चल सकते हैं। स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, हिन्दू-अहिन्दू सभी गीताके बताए रास्तेपर चलकर परमगति पा जाते हैं। मुक्ति कर्मों-का त्याग करनेसे नहीं मिलती, कर्मकी आसक्ति और फलासक्तिके त्यागसे मिलती है। आसक्ति और फलेच्छाका त्याग बहुत ऊँचा लक्ष्य है, पर व्यवहारिक है। कर्मोंका सर्वथा त्याग अव्यवहारिक है। जल, अन्न, वस्त्र तथा आवास मनुष्य जीवन के लिए अनिवार्य हैं। अन्न, वस्त्र, आवास और परिवहन इत्यादि निर्वाहके साधनोंका उपयोग तो कर लेना पर उन्हें उत्पादन करनेवाले कर्म और श्रमको पारिमार्थिक जीवनके प्रतिकूल बताना अव्यवहारिक है। गीता कर्मका त्याग करनेको नहीं कहती, कर्मकी आसक्तिका त्याग करनेको कहती है। यज्ञार्थ कर्म करनेका आग्रह करती है। गीता स्पष्ट कहती है कि कर्मफलका आश्रय लिये बिना जो मनुष्य विहित कर्म करता है वह संन्यासी है, योगी है। जो समस्त कर्मोंका त्याग करके बैठ जाता है वह संन्यासी नहीं है। गीता, ज्ञान और व्यवहारका समन्वय करती है। गीता व्यवहारिक वेदान्त है। गीता दर्शन सार्वभौम है, सार्वजनिक है—जाति, वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय, देश और कालकी सीमासे परे है। गीता लोकप्रिय है।

काम अपनेमें छोटा या बड़ा नहीं होता। भावना उसे हीन या महान बना देती है। चरखा चलाना एक तुच्छ काम समझा जाता था। गरीब चरखेसे थोड़ी आय कर लेते थे। गांधीजीने नया विचार दिया—नयी प्रेरणा दी। चरखेको यज्ञ बना दिया। गांधीजीने समझाया—

"गरीबोंके साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध बाँधनेका चरखेके अलावा कोई भी उपाय नहीं।"

"खादीसे ही भारतका उद्धार होगा। भारतकी स्त्रीको आजाद करनेके लिए, उसे आजीविका देनेके लिए चरखेके सिवाय और कोई साधन नहीं।"

"बेकारी दूर करनेका चरखा और खादीके सिवा और कोई उपाय नहीं।"

"युग-युगमें यज्ञका प्रकार बदलता है। आज वह यज्ञ खादीका यज्ञ है।"

गांधीजीने भावना बदल दी। चरखा यज्ञ हो गया। घर-घरमें फैल गया। राष्ट्रपति-भवन तक पहुँच गया।

बेकारी मिटानेके सर्वश्रेष्ठ साधन चरखा और ग्रामोद्योग हैं। बेकारी मिटानेका इससे अच्छा साधन अब तक हम खोज नहीं पाये हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

अच्छी तरह अनुष्ठान किए परधर्मसे गुणरहित भी स्वधर्म श्रेष्ठ है। स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्म करनेवालेको पाप नहीं लगता है।

सहज प्राप्त कर्म सदोष होनेपर भी उसका त्याग नहीं करना चाहिए। सभी कर्मोंमें कुछ न कुछ दोष तो रहता ही है। जिस प्रकार अग्निके साथ धूएँका संयोग है उसी प्रकार सब कर्मोंके साथ दोष मौजूद हैं।

मनुष्यको अपने बाप-दादासे जो कर्म मिला हो—या उसने समझ-बूझकर अपना जो कर्म निश्चित कर लिया हो उसीको कुशलतासे करनेमें उसे अपने आपको प्रसन्नतापूर्वक खपा देना चाहिये। सेवा-भावसे मनुष्य अपने हिस्सेके कर्मको करता रहे तो उसका जीवन सफल हो जाता है। अपने हिस्सेमें प्राप्त कामसे सन्तुष्ट न रहकर दूसरेके हिस्सेमें प्राप्त काम

की ओर दृष्टि लगानेसे अपना काम अच्छी तरह नहीं होने पाता—स्वकार्यमें एकाग्रता नहीं होती। दूसरेका काम या तो मिलता नहीं और अगर प्राप्त हो जाता है तो उसे करनेकी योग्यता नहीं होती। समाजमें गड़बड़ी पैदा होती है। झाड़ू देनेवाला सेनामें भर्ती होना चाहे, सैनिक अध्यापक बननेकी चाह रखे, अध्यापक व्यापारीकी हवेली देखकर व्यापार करना चाहे तो किसीका अपने नियत काममें मन नहीं लगेगा। समाजमें उथल-पुथल बनी रहेगी।

इसलिए समाजका कर्तव्य है कि झाड़ू देनेवाले, सैनिक, अध्यापक और व्यापारीकी सामाजिक प्रतिष्ठा, आय और सुविधामें इतना अधिक अन्तर न होने दे कि एक वृत्तिके व्यक्तिको दूसरी वृत्तिमें जानेकी लालच हो। रोटरी क्लब, लायन क्लब जैसी समाज-सेवी संस्थाएं सिद्धान्तरूपमें सभी उपयोगी पेशेको समान सामाजिक प्रतिष्ठा देना अपना कर्तव्य समझती हैं पर व्यवहारमें एक मोची और एक अध्यापकको उन्हें समान प्रतिष्ठा देनेकी ओर अग्रसर होना है।

गीता चाहती है कि मनुष्य अपने नियतकर्मको ईश्वर प्रीत्यर्थ करे—उसका मुख्य लक्ष्य अपने पेशे द्वारा प्राणिमात्रकी सेवा करना हो। जब मनुष्यकी ऐसी भावना हो जाती है तब वह स्वकर्मसे सन्तुष्ट रहता है और दूसरेका अधिक सुविधाजनक और अधिक लाभदायी पेशा उसे आकर्षित नहीं करता। सहजकर्म करते हुए ही निष्कामता सध सकती है।

स्वकर्म घटिया भी हो पर यदि उसे सहज प्राप्त कर्म मानकर सेवाकी भावनासे अनासक्ति पूर्वक, कुशलतासे किया जाय तो सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस बातको महाभारतकी धर्मव्याधकी कथा पुष्ट करती है।

माँस बेचनेका काम एक घटिया काम है। पर व्याधने उसे 'सहज प्राप्त कर्म मानकर कुशलतासे, शालीनतासे किया। कौशिक व्याधके पास ज्ञान प्राप्त करने गया था। उसने पूछा कि आप यह घटिया काम क्यों करते हैं? व्याधने बताया "विधाताने इस कुलमें जन्म देकर मेरे लिए जो कार्य प्रस्तुत किया है, उसका पालन करता हुआ मैं अपने बूढ़े माता-पिताकी सेवा करता हूँ। सत्य बोलता हूँ। किसीकी निन्दा नहीं करता। अपनी शक्तिके अनुसार दान करता हूँ। देवताओं, अतिथियों, कुटुम्बीजनों तथा सेवकोंको भोजन देकर जो बचता है, उसीसे शरीरका निर्वाह करता हूं। मैं किसी जीवकी हिंसा नहीं करता। मैं स्वयं मांस नहीं खाता।"

व्याधने कोई प्रतिष्ठित कर्म खोजनेमें समय न गँवाकर, सहज प्राप्त कर्मको कुशलतासे करते हुए अपना अधिकांश समय माता-पिताकी सेवा, धर्म शास्त्रोंके अध्ययन और समाजकी सेवामें लगाया।

पंडितराज व्यासने स्वधर्मका निष्ठापूर्वक आचरण करनेवाले व्याधकी आदर्श मूर्ति खड़ीकी है और उसको धर्मव्याधकी सर्वोत्तम पदवी प्रदानकी है। स्वकर्ममें निष्ठाके कारण निकृष्टतम कर्म करनेवालेको धर्मकी उच्चतम पदवी प्रदान करनेकी यह विलक्षण घटना है। व्याध स्वकर्म द्वारा ईश्वरकी पूजा करके धर्मव्याध हो गया। धर्मव्याधकी कथा मनुष्यमात्रके लिए प्रमाण है कि सिद्धि प्राप्त करनेके लिए उत्तम कर्मकी खोज नहीं करना है पर स्वकर्मको ही कुशलतासे करनेसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

कौशिकने विदा होते समय व्याधसे कहा—

> साम्प्रतं च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः।
> ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु॥
> दाम्भिको दुष्कृतः प्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत्।
> यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः॥
> तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः।
> कर्मदोषेण विषमां गतिमाप्नोति दारुणाम्॥

महाभारत (वनपर्व)

मैं तो अभी आपको ब्राह्मण मानता हूँ। आपके ब्राह्मण होनेमें सन्देह नहीं है। जो ब्राह्मण होकर भी पतनके गर्तमें गिरानेवाले पापकर्मोंमें फंसा हुआ है और प्रायः दुष्कर्मपरायण तथा पाखंडी है, वह शूद्रके समान है। इसके विपरीत जो शूद्र होकर भी दम, सत्य तथा धर्मका पालन करनेके लिए सदा तत्पर रहता है, उसे मैं ब्राह्मण ही मानता हूँ, क्योंकि मनुष्य सदाचारसे ही द्विज होता है। कर्मदोषसे मनुष्य विषम एवं भयंकर दुर्गतिमें पड़ता है।

लालचको मर्यादामें रखने, मनुष्यको सरलतासे अपना पेशा प्राप्त करने, दूसरेके पेशेको देखकर न ललचाने, समाजमें सन्तुलन बनाए रखने और सभी उपयोगी पेशेको समान महत्व देनेके लिए ही वर्ण-व्यवस्थाकी गयी है। एक बढ़ईका पुत्र सुगमतासे बढ़ईकी कला विकसित कर पाता है। बचपनसे ही अपने बापको लकड़ीकी तरह-तरहकी वस्तुएँ बनाते देखता है। बापके गुणके साथ-साथ बापके औजार तथा ग्राहक भी उसे

मिल जाते हैं। पेशेकी चिन्तासे वह मुक्त हो जाता है। फिर भी बढ़ईका पुत्र अपनी विशेष रुचि या परिस्थितिके कारण बढ़ईका पेशा न करके अध्यापक बनना चाहे तो उसे कोई प्रतिबन्ध नहीं है। समझ-बूझकर और अपने स्वभावके अनुरूप अध्यापकका पेशा अपना लेनेपर वही उसका स्वधर्म हो जाता है जिसमें उसे तन्मय हो जाना चाहिए।

बापूजी लिखते हैं "स्वभावजन्य कर्ममें पाप न होनेकी सम्भावना है, क्योंकि उसीमें निष्कामताकी पाबन्दी हो सकती है, दूसरा करनेकी इच्छामें ही कामना आ जाती है। बाकी तो जैसे अग्निमात्रमें धुँआ है, वैसे ही कर्ममात्रमें दोष तो अवश्य है, पर सहजप्राप्त कर्म फलकी इच्छाके बिना होते हैं, इसलिए कर्मका दोष नहीं लगता।"

श्रीभगवानने कहा—तुम सब कर्मोंको मुझे समर्पित करके, मुझमें ही अपने चित्तको लगाये रखो। अहंकारवश अपने कर्तव्यकर्मका त्याग मत करो।

ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें निवास करता है। जीवनका सूत्रधार वही है। भक्तिभावसे उसी परमात्माकी शरण जाओ। खुशीसे अपनी बागडोर उसके हाथमें देकर निश्चिन्त हो जाओ। इससे तुम्हें परम-शांति मिलेगी।

श्रीभगवानने कहा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सब धर्मोंका त्याग करके एक मेरी ही शरणले। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूँगा। शोक मत कर।

सब धर्मोंको त्यागनेका मतलब सब कर्मोंको छोड़ना नहीं है। श्री भगवान द्वितीय अध्यायसे लेकर अठारहवें अध्याय तक अर्जुनको कर्मयोगी बननेकी प्रेरणा देते रहे हैं और परिणाम भी यह हुआ कि अर्जुन कर्ममें प्रवृत्त हुआ। गीतामें श्रीभगवानके उपदेशका यह अन्तिम श्लोक है। इस श्लोकको मनन करनेसे ऐसी भावना होती है कि अर्जुनको सबकुछ समझा चुकनेके बाद श्रीभगवान बड़े भाईकी तरह उसके कन्धेपर हाथ रखकर कह रहे हैं—"भैया, धर्म-कर्मके अनेक प्रपंचोंको छोड़ो, धर्म-विषयक अनेक तर्कोंमें मन को न उलझाकर श्रद्धापूर्वक ईश्वरकी शरण जानेको ही अपना एकमात्र धर्म समझो। सब पापोंसे मुक्त होनेका यही एकमात्र मार्ग है। शरणागतिके लिए श्रीभगवानका आह्वान है।

सन्तोंने अपने उपदेश और अपने आचरणमें समर्पणकी झांकी दिखाई है—

जिस समय ईसाको सूलीपर चढ़ाया गया उन्होंने कहा—"मालिक तेरी इच्छा पूरी हो।"

नानकने कहा "हुक्म रजाई चल्लना", ईश्वरकी आज्ञापर चलो—अर्थात् अपने आपको उसकी मर्जीपर छोड़ दो।

गांधीजी कहा करते थे—"ईश्वरकी इच्छाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता।" यह पूर्ण समर्पणकी भावना थी। गाँधीजीको जब गोली लगी तब "हे राम" का उच्चारण पूर्ण समर्पणका ही उद्घोष था।

श्रीभगवानने कहा—जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है और जो सुनना नहीं चाहता उसे यह गीता ज्ञान मत सुनाना। जो यह ज्ञान मेरे भक्तोंको देगा वह मेरी भक्तिके कारण मुझे ही पावेगा।

श्रीभगवानने पूछा—क्या तुमने एकाग्रचित्त होकर सुना और क्या तुम्हारा मोह नष्ट हुआ?

अर्जुनने कहा—आपकी कृपासे मेरा मोह नाश हो गया है, मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।

संजयने कहा—जहाँ स्वधर्मका बोध करानेवाले श्रीकृष्ण हैं और जहाँ तदनुसार आचरण करनेवाले अर्जुन हैं वहाँ सफलता और विजय प्राप्त करना निश्चित है।

स्वधर्मका बोध प्राप्त करके अनासक्ति पूर्वक स्वधर्म पालनमें तत्पर रहना ही मनुष्य जीवनकी सार्थकता है।

■

काम, क्रोध, लोभ, मोह, आलस्य, अहंकार, पद-लिप्सा, इन्द्रियों की चंचलता, राग-द्वेष, वासना, और अभ्यास हमें स्वार्थ की ओर सदैव खींचते रहते हैं। पर यह कोई निराशा की स्थिति नहीं है। सभी साधकों को ऐसी स्थिति से गुजरना पड़ता है। क्रिकेट के खिलाड़ी को ग्यारह फील्डर आउट करने की ताक में लगे रहते हैं। इतने प्रवल क्षेत्र रक्षकों से घिरे रहते हुए भी कई खिलाड़ी शतक वना लेते हैं। क्षेत्र रक्षकों को हटा दिया जाय तो खेल में कोई आकर्षण नहीं रह जायगा। तेज गेंदवाजो और क्षेत्र रक्षकों की व्यूह रचना के वावजूद रन वनाना ही वल्लेवाज की कुशलता है। अनेक विघ्न-वाधाओं के रहते हुए भी निष्काम[illegible] करते जाना मनुष्य की कुशलता है। वाधाएँ [illegible] तो जीवन नीरस हो जाय।

'लोकप्रिय गीता' [illegible]